स्वराज्य दर्शन



स्वराज्य दर्शन

(ऋषि दयानन्द के राजनैतिक विचारों का विवेचन)

लेखक
प्रिंसिपल— लक्ष्मीदत्त दीक्षित एम. ए.
(वर्तमान— स्वामी विद्यानन्द सरस्वती)

भूमिका-लेखक
घनश्यामसिंह गुप्त



आर्य प्रकाशन
८१४ कूण्डे वालान, अजमेरी गेट, दिल्ली

प्रकाशक
तिलकराज आर्य
अध्यक्ष
आर्य प्रकाशन
८१४ कूण्डेवालान,
अजमेरी गेट, दिल्ली-६
दूरभाष : ३२३३२८०

संस्करण : १९९७

मूल्य : दस रुपये

शब्द संयोजक :
पूजा लेज़र प्रिन्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२
दूरभाष : २११८५३६ (नि०) २२८५३२४, २२९२६५६

मुद्रक :

समर्पणम्

जिसके स्तन्य से पोषित, गोद में विलसित और
आशीर्वाद से विकसित मुझे इस ग्रन्थ के
प्रणयन का सामर्थ्य प्राप्त हुआ, उसी
प्रातः स्मरणीय स्नेहमूर्त्ति माँ
श्रीमती सेवती देवी के
चरणों में मेरी यह
प्रथम कृति
सश्रद्ध
समर्पित

विनीत - लक्ष्मीदत्त

प्रकाशकीय

महर्षि दयानन्द ने अखण्ड एवं स्वतन्त्र भारत का स्वप्न देखा था। देश के महान क्रान्तिकारियों ने महर्षि दयानन्द से प्रेरणा लेकर देश को आजाद कराया और आज हम स्वतन्त्रता की सांस लेते हुए महर्षि दयानन्द को याद करते हैं। और भविष्य में भी उन्हें याद करेंगे।

इस वर्ष हम अपनी स्वाधीनता की रजत जयन्ती हर्षोल्लास के साथ मना रहा हैं। मैंने भी इसी परम्परा का निर्वाह करते हुए महर्षि दयानन्द के **'स्वराज्य दर्शन'** को आपके समक्ष रखने का प्रयास किया है।

स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती महाराज का नाम पूरे देश में प्रसिद्ध है। उनकी प्रतिभा एवं पांडित्य का सांगोपांग दर्शन उनकी इस **प्रथम रचना स्वराज्य दर्शन** में कर सकते हैं। ग्रन्थ का आकार भले ही छोटा हो, पर उसका एक एक सूत्र, एक–एक मोती से कम नहीं है। सूत्रों की ऐसी सरल भाषा में व्याख्या करना आप जैसे स्वामी जी महाराज के ही वश की बात है। इसका प्रथम संस्करण १९४७ ई. में प्रकाशित हुआ था। संयोग से इस ग्रन्थ का यह संस्करण भी आप सबकी माँग पर ५० वर्ष के अन्तराल पर छप रहा है। आशा है कि यह ग्रन्थ सबके लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

इस ग्रन्थ के सम्पादन में डॉ. नरेन्द्र कुमार, उप संपादक 'नंदन' (हिन्दुस्तान टाइम्स समूह, नई दिल्ली) का सहयोग भुलाया नहीं जा सकता। उनको मेरा साधुवाद। यदि ग्रन्थ में कहीं आपको त्रुटियां नजर आ जाएँ तो कृपया उन्हें मुझे सूचित करने का कष्ट करें।

मैं स्वामी विद्यानन्द जी महाराज का बहुत–बहुत आभारी हूं की उन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन की जिम्मेदारी मुझे सौंपी। इसमें मैं कितना सफल रहा, इसका निर्णय आप महानुभाव करेंगे।

आपका

तिलकराज आर्य

अपनी बात

"अन्य देशवासी राजा हमारे देश में न रहें।"- आज से ७५ वर्ष पूर्व ऋषि दयानन्द के इन शब्दों की प्रतिध्वनि से समस्त वायुमण्डल गूंज उठा और तत्कालीन ब्रिटिश अधिकारियों के मुंह से अनायास निकल पड़ा कि "यदि स्वामीजी के भाषण पर लोग चलने लगें तो हमें अपना बधना बोरिया बांधना पड़ेगा।" ऋषि की मनोकामना आज पूरी हो रही है। वास्तव में भारतीय राष्ट्र के निर्माण से सम्बन्ध रखने वाले सभी आन्दोलनों का सूत्रपात स्वामी दयानन्द ने एक साथ कर दिया था। किन्तु आज जब कि देश विदेशी शासन से मुक्त होने जा रहा है कितने लोग हैं जो इस बात को जानते हैं ? ऋषि के स्वराज्य सम्बन्धी आदर्शों तथा राजनीतिक सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराना ही "स्वराज्य दर्शन" का उद्देश्य है।

ऋषि दयानन्द का लक्ष्य भारत में 'अखण्ड, स्वतंत्र, स्वाधीन और निर्भय' राज्य की स्थापना करना था। यद्यपि सम्प्रति हम अपने निर्दिष्ट पथ से थोड़ा सा भटक गये हैं किन्तु हमारा लक्ष्य वही है। 'स्वतंत्र और स्वाधीन' हो जाने पर भी हम अभी 'अखण्ड और निर्भय' नहीं हैं। इस दिशा में हमारा प्रयत्न बराबर जारी रहना चाहिए।

इस ग्रन्थ की तैयारी में सर्वश्री महात्मा नारायणस्वामी जी महाराज, माननीय घनश्यामसिंह जी गुप्त, पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय आदि अनेक विद्वानों से प्रेरणा मिली है। उन सबका मैं हृदय से कृतज्ञ हूं।

टिप्पणी में निर्दिष्ट पृष्ठ संख्या सत्यार्थप्रकाश के सन् १६२५ में सम्पन्न दयानन्द जन्म शताब्दी के अवसर पर गोविन्दराम हासानन्द द्वारा प्रकाशित संस्करण के अनुसार हैं।

देहली

१५ अगस्त, १६४७

—लक्ष्मीदत्त दीक्षित

अवतरणिका

श्री पं० लक्ष्मीदत्त जी दीक्षित लिखित "स्वराज्यदर्शन" एक छोटी सी परन्तु विचारपूर्ण और अत्यन्त उपयोगी राजनीतिक पुस्तक है। इस में ऋषि दयानन्द के राजनीति सम्बन्धी अमृतवचनों का संग्रह करके उनकी विशद परन्तु संक्षिप्त व्याख्या की गई है। ऋषि दयानन्द ने जब अपने ग्रन्थ लिखे थे उस समय भारत में अंगरेजी राज्य पूर्ण उन्नति के शिखर पर था और 'स्वराज्य' का नाम लेना ही खतरनाक समझा जाता था। उस समय इण्डियन नेशनल कांग्रेस का भी जन्म नहीं हुआ था। जिस समय श्री दीक्षित जी ने अपनी पुस्तक लिखी स्वराज्य दरवाजे से झांक रहा था, भीतर नहीं आने पाया था। १५ अगस्त, ४७ को स्वराज्य के दर्शन हुये। इतने दिन पुस्तक के छपने में लगे। १५ अगस्त, ४७ के पश्चात् इन छः सप्ताह में भारतवर्ष ने जो अनुभव प्राप्त किये हैं वे अत्यन्त कटु हैं। भारत के राजनीतिज्ञों ने ऋषि दयानन्द की शिक्षा ग्रहण करने में उपेक्षा की है। उन्होंने मूल के स्थान में पत्तों को सींचना ही कृतकार्यता के लिये पर्याप्त समझा है। परन्तु नये अनुभव नये पाठ सिखा रहे हैं। श्री दीक्षितजी की यह छोटी सी पुस्तक बड़े बड़े राजनीतिज्ञों के लिये उपयोगी हो सकती है, यदि वे इधर ध्यान दे सकें, क्योंकि यह ऋषि दयानन्द के परिपक्व विचारों के आधार पर लिखी गई है।

इस पुस्तक में वैधानिक जटिल समस्याओं की मीमांसा नहीं की गई अपितु दृष्टिकोण पर बल दिया गया है। हर एक क्षेत्र में दृष्टिकोण ही सब कुछ है, शेष सब बातें दृष्टिकोण के आश्रित हैं। पुस्तक छोटी होने से थोड़े से ही समय में पढ़ी जा सकती हैं। जो लोग आर्यसमाज

के ग्रन्थों को नहीं पढ़ते और आर्यसमाज के विषय में मनमानी धारणायें बना बैठते हैं उनको यह पुस्तक बहुत ही लाभकर होगी। और उनको पता चलेगा कि उनकी यह उपेक्षा देश और संसार के लिये कितनी बाधक है। आशा है, इस पुस्तक को लोग रुचि से पढ़ेंगे।

—गंगाप्रसाद उपाध्याय

श्रद्धानन्द बलिदान भवन,
देहली।
२०-६-४७

भूमिका

लेखक- श्री घनश्यामसिंह गुप्त

हमारा भारत देश आज स्वतन्त्रता के द्वार पर खड़ा है। अंग्रेज शासन का नाता तोड़ कर मैत्री का नाता जोड़ना चाहते हैं। स्वतन्त्र भारत का विधान बनने जा रहा है। वर्षों की परतन्त्रता की श्रृंखलाओं को तोड़ने में कौन कौन सी शक्तियों ने कार्य किया, किन विभूतियों के परिश्रम का यह फल है-यदि इसका अन्वेषण किया जाय तो जहां महात्मा गांधी, पं० जवाहर लाल नेहरू, सरदार पटेल आदि आधुनिक व्यक्तियों के नाम सहज ही दृष्टि में आते हैं और जहां लोकमान्य तिलक, महामना मालवीय आदि दिवंगत आत्माओं के नाम भी याद आते हैं वहां उन महापुरुषों के नाम भी हमें कृतज्ञता पूर्वक याद रखने होंगे जिनका सारा यत्न राजनैतिक क्षेत्र तक ही परिमित नहीं था। अपितु जिन्होंने भारत को ऊंचा करने में सामाजिक, धार्मिक आदि क्षेत्रों में भी कार्य किया। ऐसे महापुरुषों में महर्षि स्वामी दयानन्द का नाम सहज ही अग्रगण्य है।

दयानन्द ने जो कार्य धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में किया वह तो जगत् प्रसिद्ध है और उसे अन्धा भी देखता है। परन्तु उस ऋषि का कार्य भारत को ऊंचा करने में सर्वांगीण रहा है-यह कई लोगों को ज्ञात नहीं। ऋषि ने रोग को जड़ से पकड़ा और उसका उसी प्रकार उपचार भी किया। राजनैतिक क्षेत्र में भी ऋषि का कार्य बहुत ऊंचा था और अनुयायियों पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा। यह कदाचित् अब कई लोगों को याद नहीं कि एक जमाना था जब कि आर्यसमाज तत्कालीन ब्रिटिश

सरकार द्वारा वागी समाज समझा जाता था और न केवल ब्रिटिश भारत में अपितु कुछ रियासतों में भी उसे इस कारण कष्ट झेलने पड़े। राजनैतिक उन्नति एक पृथक् स्वतन्त्र वस्तु है जिसका हमारी उन्नतियों से कोई सम्बन्ध नहीं, ऐसा ऋषि नहीं मानता था। हमारा समाज कितना भी गिरा हुआ हो, हम स्त्रियों पर, अछूत कहलाने वाले भाइयों पर कितना भी अत्याचार करते रहें फिर भी हम राजनैतिक उन्नति के शिखर पर पहुंच सकते हैं, यह उसे ठीक नहीं जंचता था। बाल विवाह, स्त्रियों और शूद्रों को विद्या न पढ़ाना, अछूतपन आदि आदि कुरीतियां जो हमें बलहीन बना रही थीं उन पर कुठाराघात किए बिना हमें राजनैतिक स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती-इसे सबसे पहले उसी ऋषि ने देखा और उसके प्रतिपादन में सैकड़ों यातनायें सहीं। वह जमाना था जब कि वे सब लोग ही जिनकी भलाई के लिए वह रात दिन अनथक परिश्रम करता था, उसे अपना शत्रु समझते थे और वैसा ही व्यवहार भी करते थे। अपनी कमजोरियों को दूर किए बिना और अपने व्यवहार भी तथा आचरण को ऊंचा किए बिना हम स्वराज्य नहीं पा सकते, यह सबसे पहिले उसी ने बताया।

भारत की राजनैतिक उन्नति की नींव डालने वाला महर्षि दयानन्द था-यह कई लोगों को विदित नहीं। इस दृष्टि से श्री पं० लक्ष्मीदत्त जी दीक्षित ने एक बड़ी कमी को पूरा किया है। राजनैतिक क्षेत्र में दयानन्द ने जो कार्य किया और उनके जो विचार थे उन सबको एक स्थान में इकट्ठा करने का महत्त्वपूर्ण कार्य लेखक महोदय ने अपने ग्रन्थ में किया है। विषय प्रतिपादन की शैली भी उनकी अपनी है। सूत्रों के भाष्य का रूप देकर ग्रन्थ को एक नया स्वरूप दिया गया है। इसमें उन्होंने हमारे प्राचीन सूत्रकार ऋषियों का अनुकरण किया है। सूत्रों को पहले एक स्थान में क्रमबद्ध कर देना भी अच्छा हुआ।

मुझे विश्वास हैं कि इस ग्रन्थ को पढ़ने से साधारण जनता को ऋषि के कार्य के बारे में एक नई जानकारी प्राप्त होगी। जो लोग ऋषि के कार्य से विशेष परिचय रखते हैं उनके लिए कदाचित् प्रसंग नया न हो। वे भी इसे एक जगह पाकर लाभ उठायेंगे। ग्रन्थकर्ता श्री पं० लक्ष्मीदत्त जी दीक्षित को बधाई।

दुर्ग
वैशाख कृष्ण ८
सं० २००४ विक्रमी।

—घनश्यामसिंह गुप्त

प्रस्तावना

लेखक-तपोनिष्ठ श्री महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज,
प्रधान-सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, देहली

श्री लक्ष्मीदत्त दीक्षित रचित 'स्वराज्य दर्शन' को मैंने आद्योपान्त पढ़ा। यह दर्शन अत्यन्त उपयोगी और इसकी रचना सामयिक है। राजनीति के पण्डितों को इसे देखने से यह लाभ होगा कि वे जान सकेंगे कि वेदों की राजनीति विश्वभावनापूर्ण है जिसमें मनुष्यों में रंग, नसल और मज़हब आदि के आधार पर किसी प्रकार का भी भेद भाव नहीं रखा गया है। यही और इसी प्रकार की राजनीति अन्तर्राष्ट्रिय शान्ति का कारण एक समय थी और अब भी हो सकती है। इस दर्शन का अधिक से अधिक प्रचार होना चाहिये।

—नारायण स्वामी

देहली
४-२-४७

विषय सूची

स्वराज्य दर्शन

स पूर्वेषामपि गुरुः ।
आर्य्या आर्य्यावर्त्तीयाः ।
यतेमहि स्वराज्ये ।
स्वराज्याभावे सुराज्याभावः ।
विदेशाधिपत्याद्दुःखागमः ।
भेदो हि राजरोगः ।
तत्सत्त्वे विडालन्यायः ।
विरोधाभावो हानोपायः ।
न सहभोजाद् विवाहाद्वा ।
न च तृतीयाभावादपि ।
मतैक्यादेव ।
राष्ट्रध्वजः स्वराज्याधारश्च गौः ।
अविद्याऽन्यायाभिमानैर्नाशः ।
वैदेशिकवस्तूपयोगे दारिद्र्यम् ।
तद् बहिष्कारः ।
द्वीपान्तरे व्यापारः ।
सर्वोपरि श्रमजीविनः ।
अविभाज्योऽयमार्य्यावर्त्तः ।
आर्यभाषा हि राष्ट्रभाषा ।

विश्वभाषा तु संस्कृतम्।
गुणगणोपगूढो हि राजा।
सभाधीनो राजा जानराज्याय।
न जनमतोपेक्षा नित्यम्।
स्वेच्छाचारितापि निषिद्धा।
बहुपक्षाश्रितो निर्णयः।
प्रजाधीना सभा।
अन्योऽन्याश्रिताः सर्वे।
नाज्ञानामधिकारः पारिषद्ये।
स्वदेशोत्पन्नाः निःस्पृहाः शास्त्रविदश्चामात्याः।
संयुक्तोत्तरदायित्वम्।
गुणैरुत्कर्षो न जन्मादिना।
चारचक्षुषो राजानः।
सेनाबलाश्च।
कोषदण्डबले प्रभुशक्तिः।
नगरव्यवस्थार्थं मनुष्यपालयित्री।
सदविरोधः स्वायत्तीकरणमाततायिनश्च।
सत्याग्रहः शक्तयाग्रहश्च।
प्रीतिपूर्वकं यथायोग्यम्।
आत्मरक्षणे हिंसा अहिंसैव।
संस्कृतिविस्तारस्त्वहिंसयैव।

बाह्याभ्यन्तराक्रमणेभ्यस्स्वराष्ट्ररक्षणं शस्त्रादिभिः ।
दस्युराक्षसपिशाचाततताय्यादीनां नियन्त्रणं दण्डेन ।
नाततायिवधे दोषः ।
हिंसायाः हननात् ।
आदानं हि विसर्गाय ।
चक्रवर्तिराज्यश्रीप्राप्त्यर्थं पुरुषार्थः ।
विश्वोपकारार्थं साम्राज्यं नोत्पीडनार्थम् ।
वसुधैव कुटुम्बकमित्यर्थं राष्ट्रसंघः ।
युद्धावसाने संयतानां मोक्षः ।

स्वराज्य दर्शन

स पूर्वेषामपि गुरुः ॥१॥

(राष्ट्रगुरु दयानन्द)

राष्ट्र और राष्ट्रियता के विषय में राज्यशास्त्र के विशेषज्ञों ने अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया है और उनमें विविध प्रकार के प्रचलित राजनीतिक वादों का सोपपत्तिक प्रतिपादन किया गया है। अर्वाचीन भारत में राष्ट्र और राष्ट्रियता की कल्पना का श्रेय आचार्य दयानन्द और उनके अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश को है। कल्पना ही नहीं, राष्ट्र के समुन्नत, सुविलसित, सुदृढ़ और सुविस्तृत बनाने के लिये आवश्यक सभी बातों का उन्होंने उल्लेख किया है। भारत की स्वतन्त्रता से सम्बन्ध रखने वाली कौन सी ऐसी बात है जिस पर ऋषि दयानन्द ने लेखनी नहीं उठाई। भारतीय राजनीति के प्रत्येक पहलू पर उन्होंने विचार किया। देश की तत्कालीन और सम्भावित सभी समस्याओं की ओर उनका ध्यान गया। सत्यार्थप्रकाश को पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है मानो इस ग्रन्थ की रचना आज ही हुई है। राष्ट्रिय महासभा (कांग्रेस) ने १९२७ में पूर्ण स्वराज्य को अपना ध्येय स्वीकार किया और १९२९ में लाहौर में उसकी प्राप्ति के लिये संघर्ष करने की घोषणा की। इससे पूर्व १९१६ में लखनऊ कांग्रेस में लोकमान्य तिलक ने 'स्वराज्य' के जन्म सिद्ध अधिकार की घोषणा करते हुए उसे प्राप्त करने का दावा किया था। उससे भी पूर्व १९०६ में दादा भाई नौरोजी ने 'स्वराज्य' शब्द का उच्चारण किया था। किन्तु आचार्य दयानन्द ने १८७५ में जब 'स्वराज्य' का विचार भी किसी

के मस्तिष्क में नहीं उपजा था, स्वराज्य और चक्रवर्ती साम्राज्य की घोषणा की थी।

आर्य्या आर्यावर्त्तीयाः ॥२॥

(आर्यों का आदिदेश)

स्वराज्य आन्दोलन का आधार है अंगरेजों का विदेशी होना और हमारा इस देश पर जन्मसिद्ध अधिकार होना। परन्तु आधुनिक परम्परागत इतिहास के आधार पर हम उतने ही विदेशी हैं जितने अंगरेज। गांव की छोटी-से-छोटी पाठशाला से लेकर बड़ी से बड़ी यूनिवर्सिटी तक में यही पढ़ाया जाता है कि "पहले इस देश में जङ्गली, लोग बसते थे। कुछ समय बाद आर्यों ने इस देश पर अधिकार कर लिया।" ये आर्य लोग कब, कहां से और क्यों आये तथा यहां पहले कौन बसते थे—इसमें मतभेद हो सकता है। किन्तु वे बाहर से आये और उनसे पहले यहां कोई और लोग रहते थे—इस विषय में सभी एक मत हैं। हमारे स्वातन्त्र्य-संग्राम के बड़े-बड़े सेनानी भी ऐसा ही मानते हैं। विचारपूर्वक देखा जाये तो इस सिद्धान्त के मानते ही हमारे स्वराज्य आन्दोलन की नींव निकल जाती है और हमारे लिए भी 'भारत छोड़ो' उतना ही आवश्यक हो जाता है जितना अंगरेजों के लिए। इस देश में ऐसे वर्ग हैं जो सचमुच ऐसी मांगें करने लग गये हैं। वास्तव में महर्षि दयानन्द ही एक ऐसा व्यक्ति हुआ है जिसने इस तत्त्व को पहचाना और लिखा—"इस (आर्य्यावर्त) से पूर्व इस देश का नाम कोई भी नहीं था और न कोई आर्यों के पूर्व इस देश में बसते थे। आर्य लोग सृष्टि के आदि में कुछ काल के पश्चात् तिब्बत से सूधे इसी देश में आकर बसे थे। किसी संस्कृत ग्रन्थ या इतिहास में नहीं लिखा कि आर्य लोग ईरान से आये और यहां के जङ्गलियों को लड़कर, जय पाके, निकाल इस देश के राजा हुए। पुनः विदेशियों का लेख माननीय कैसे

हो सकता है।"[१] इस प्रकार ऋषि दयानन्द ने स्वराज्य के मूलाधार का निर्माण किया।

यतेमहि स्वराज्ये ॥३॥

पूर्ण स्वराज्य

राष्ट्रियता आचार्य दयानन्द की आध्यात्मिकता का प्राण थी। देश भक्ति ऋषि की ईश्वर भक्ति का अनिवार्य अङ्ग थी। "अन्य देशवासी राजा हमारे देश में न हों तथा हम लोग पराधीन कभी न रहें।"[२] दयानन्द के इन शब्दों में 'पूर्ण स्वराज्य' की घोषणा है और 'भारत छोड़ो' की ललकार है। ऋषि ने अनेक स्थलों पर परमात्मा की स्तुति 'राजा, साम्रांज्यप्रसारक, राज्य विधायक, सम्राट, महाराजाधिराज, महाराजाधिराजेश्वर'[३] आदि सम्बोधनों से की है। उधर स्तुति प्रार्थनोपासना के प्रकरण में उन्होंने लिखा है—"स्तुति का फल यह है कि जैसे परमेश्वर के गुण हैं वैसे गुण कर्म स्वभाव अपने भी करना जैसे वह न्यायकारी है तो आप भी न्यायकारी होवे।"[४] स्पष्ट है कि 'आर्याभिविनय' के अनुसार प्रार्थना करने वालों को ऋषि ने परमात्मा के सदृश राजा, साम्राज्य-प्रसारक आदि बनने की प्रेरणा की है। अपने आराध्यदेव को 'सम्राट्' मानने वाला व्यक्ति स्वयं पराधीन कैसे बना रह सकता है ? 'अदीनाः स्यांम शरदः शतं' का अर्थ ऋषि लिखते हैं—"हम सौ वर्ष की आयु में कभी पराधीन न हों। सदा स्वाधीन ही रहें।"[५] यजुर्वेद के एक मंत्र की व्याख्या करते हुए ऋषि ने मनुष्य जीवन का पहला प्रयोजन "अत्यन्त पुरुषार्थ करके और शरीर को स्वस्थ रखकर चक्रवर्ती राज्य श्री सम्पादन करना"[६] बताया है।

---

१. सत्यार्थ० पृ० १४४। २. आर्याभि० पृ० २१४। ३. आर्याभि० पृ० १४।
४. सत्यार्थ० पृ० ११५। ५. आर्याभि० पृ० २२८। ६. यजु० अ० १ मं० ६।

स्वराज्याभावे सुराज्याभावः ॥४॥

(स्वराज्य की महिमा)

विदेशी राज्य कितना ही अच्छा क्यों न हो, माता-पिता के समान व्यवहार करने वाला ही क्यों न हो स्वराज्य की बराबरी नहीं कर सकता। स्वामी दयानन्द ने पूर्ण स्वराज्य की घोषणा उस समय की जब भारत के लोग सरकार से थोड़ी-सी सुविधायें पाकर ही सन्तुष्ट हो जाना चाहते थे। "दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है। कोई कितना ही कहे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रह रहित, अपने और पराये का पक्षपात शून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ भी विदेशियों का राज्य पूर्ण सुखदायक नहीं हो सकता।"[१] "सत्यं शिवं सुन्दरम्" की कितनी सुन्दर कल्पना है। ऋषि दयानन्द की दृष्टि में विदेशी राज्य किसी भी रूप में श्रेयस्कर नहीं है और इस विषय में किसी भी प्रकार का समझौता असम्भव है। स्वराज्य, स्वराज्य के लिए है। वह सुराज्य से भी ऊपर है। वास्तव में विदेशी शासन ही कुशासन का मूल कारण है। महर्षि की निश्चित धारणा थी कि—

विदेशाधिपत्याद्दुःखागमः ॥५॥

(दुःख का हेतु)

देश की दुर्दशा पर आसू बहाते हुए स्वामीजी लिखते हैं—"जब से विदेशी इस देश में आकर राज्याधिकारी हुए हैं तब से क्रमशः आर्यों के दुःखों की बढ़ती होती जाती है।"[२] पराधीनता को ही सब दुःखों की जड़ मानते हुए वह लिखते हैं—"जब स्वदेश में परदेशी व्यवहार वा राज्य करें तो बिना दारिद्र्य और दुःख के दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता।"[३] कितनी तीव्र वेदना है ऋषि के शब्दों में! विदेशी राज्य से कितनी घृणा थीं उन्हें।

१. सत्यार्थ० पृ० १४५। २. सत्यार्थ० पृ० १७२। ३. सत्यार्थ० पृ० ६६६।

भेदो हि राजरोगः ॥६॥

(राज-रोग)

आपस की फूट से स्वामीजी का हृदय अत्यन्त दुःखी था। रह-रहकर कई स्थलों पर उन्होंने उसका उल्लेख किया है। "आपस की फूट से कौरव, पाण्डव और यादवों का सत्यानाश हो गया परन्तु अब तक भी वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दुःख सागर में डूबा-मारेगा। उसी दुष्ट दुर्योधन गोत्र हत्यारे, स्वदेश विनाशक, नीच के मार्ग में आर्य लोग अब तक भी चलकर दुःख बढ़ा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करे कि यह राजरोग हम आर्यों में से नष्ट हो जावे।"[1] कितना मार्मिक चित्रण है आपस की फूट का। यही फूट हमारी वर्तमान दासता का कारण बनी है। अङ्ग्रेजों ने हमारे देश पर क्यों और कैसे अधिकार किया, इस प्रश्न पर उत्तर देते हुए ऋषि ने लिखा है—

तत्सत्त्वे विडालन्यायः ॥७॥

(विदेशी राज्य का कारण)

"जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं तभी तीसरा विदेशी आकर पञ्च बन बैठता है।"[2] महान् सत्य को ऋषि ने कितने सरल शब्दों में लिख दिया है। ऋषि लिखते हैं "विदेशियों के आर्यावर्त में राज्य होने के कारण आपस की फूट मतभेद-आदि हैं।"[3]

विरोधाभावो हानोपायः ॥८॥

(उपाय)

रोग के निवारण के लिए उसके कारण का दूर करना आवश्यक है। स्वराज्य की प्राप्ति के लिए विदेशी राज्य का कारण फूट का दूर

---

१. सत्यार्थ० पृ० १७०। २. सत्यार्थ० पृ० १७०। ३. सत्यार्थ० पृ० १७०।

करना अनिवार्य है। "बिना इस विरोध के छूटे परस्पर का पूरा उपकार और अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है।"[१] महर्षि की स्वराज्य और एकता सम्बन्धी भावना को अथर्ववेद के ही एक मन्त्र से प्रेरणा मिली थी। वह मन्त्र है—"यदजः प्रथमं सं बभूव सह तत्स्वराज्यमियाय। यस्मान्नान्यत्परमस्ति भूतम्।"[२] अर्थात् "जब कर्मयोगी प्रजागण सबसे पहले संगठन करता है, तब वह स्वराज्य प्राप्त करता है जिससे बढ़कर दूसरा कोई राज्य नहीं है" इस वेद मन्त्र में दो बातें स्पष्ट हैं। एक तो यह है कि स्वराज्य की प्राप्ति के लिए सङ्गठन का होना आवश्यक है। दूसरे यह कि स्वराज्य से बढ़कर कोई राज्य नहीं। विरोध को दूर करने के सिद्धान्त से भी सभी सहमत हैं। उसे दूर करने के लिए आवश्यक साधनों के विषय में ही मतभेद है। ऋषि दयानन्द देश में वर्तमान विभिन्न सम्प्रदायों की एकता की आवश्यकता को पूरी तरह अनुभव करते थे। सर सैयदअहमद खां आदि को बुलाकर भारत के इतिहास में सबसे पहला एकता या सर्वदल सम्मेलन करने का श्रेय महर्षि दयानन्द को ही है। यह सम्मेलन सफल न हो सका। सम्मेलन समझौते का आधार बना सकते हैं, एकता का नहीं। समझौते से तत्कालीन समस्या का हल भले ही हो जाये किन्तु वह व्यापक नहीं हो सकता। उसका प्रभाव तात्कालिक हो सकता है किन्तु उसमें स्थायित्व सम्भव नहीं। ऐसे उपायों से रोग दब सकता है किन्तु नष्ट नहीं हो सकता। इतना ही नहीं कालान्तर में वह और भी उग्र रूप धारण करके प्रगट हो जाता है। साम्प्रदायिक समस्या का हल बाह्योपायों से सम्भव नहीं है। यहां तक कि—

न सहभोजाद्विवाहाद्वा ॥६॥

(रोटी-बेटी)

"खाना पीना एक होने से सुधार नहीं हो सकता, जब तक बुरी

१. सत्यार्थ प्रकाश पृ० १४५ २. अथर्व० १०।७।३१।

बातें नहीं छोड़ते अच्छी बातें नहीं करते तब तक बढ़ती के बदले हानि होती है।"[१] प्रतिदिन होने वाली घटनायें महर्षि दयानन्द के इस कथन को पुष्ट करती हैं। बिरादरी के आधार पर रोटी बेटी तक रखने वालों में सिर फुटौवल होता है। एक ही थाली में भोजन करने वाले सहोदरों में झगड़े होते हैं। यूरोप में तो रोटी बेटी के विषय में कोई भेद ही नहीं है। तिस पर वहां पारस्परिक संघर्ष का अभाव नहीं है। तब रोटी बेटी की एकता को राष्ट्रीय एकता का आधार कैसे माना जा सकता है। वेद का कथन "समानो प्रपा सह वोऽन्नभागः"[२] सर्वथा उचित है किन्तु वह भी एकता का कारण नहीं बन सकता। केवल उसे स्थिर रखने में सहायक हो सकता है। वास्तव में खान-पान की भिन्नता पारस्परिक विरोध का परिणाम हो सकती है, कारण नहीं।

न च तृतीयाभावादपि ॥१०॥

(तीसरी शक्ति)

अनेक लोगों की धारणा है कि तीसरी शक्ति अर्थात् अङ्ग्रेजों की उपस्थिति ही हमारे पारस्परिक विरोध का कारण है और उनके जाते ही हम एक हो जावेंगे। यह बिलकुल मिथ्या कल्पना है। यदि यह ठीक हो तो "कारणाभावात् कार्याभावः" के अनुसार अङ्ग्रेजों के आगमन से पूर्व आपसी फूट का अभाव होना चाहिए। किन्तु ऐसा मानना इतिहास का गला घोंटना है। वास्तव में पारस्परिक विरोध विदेशी राज्य का कारण है न कि कार्य। परिस्थिति की विषमता के कारण लोग किंकर्तव्य विमूढ़ हो गये हैं और एक ही सांस में 'अङ्ग्रेजों के रहते एकता सम्भव नहीं' और 'एकता के बिना अङ्ग्रेजों का जाना सम्भव नहीं' जैसी अन्योऽन्याश्रययुक्त बातें कहने लगे हैं। फिर यह विरोध कैसे दूर हो! ऋषि दयानन्द के मतानुसार—

१. सत्यार्थ पृ० १७०। २. अथर्व० ३। ३०। ६।

मतैक्यादेव ॥११॥

(एकता का साधन)

एकता का व्यापार-स्थल मन है। "जब तक एक मन, एक हानि लाभ, एक सुख दुःख परस्पर न मानें तब तक उन्नति होना बहुत कठिन है।"[1] जब सर्व भूगोल में वेदोक्त एक मत था उसी में सबकी निष्ठा थी, और एक-दूसरे का सुख-दुःख, हानि लाभ आपस में समान समझते थे तभी भूगोल में सुख था। अब बहुत से मतवाले होने से बहुतसा दुःख और विरोध बढ़ गया है। इसका निवारण करना बुद्धिमानों का काम है। परमात्मा सबके मन में सत्य मत का ऐसा अंकुर डाले कि जिससे मिथ्या मत शीघ्र ही प्रलय को प्राप्त हों। इसमें सब विद्वान् लोग विचार कर विरोधभाव छोड़ के आनन्द को बढ़ावें।[2] परन्तु भिन्न-भिन्न भाषा, पृथक्-पृथक् शिक्षा, अलग व्यवहार का विरोध छूटना अति दुष्कर है। बिना इसके छूटे परस्पर का पूरा उपकार और अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है।[3] विचारों की भिन्नता रहते एकता सम्भव नहीं हो सकती। विरोध तो मानसिक रोग है। मानसिक रोग को शान्त करने में बाह्योपचारों से सहायता भले ही मिल जाये किन्तु वे उसे नष्ट नहीं कर सकते। उनसे पथ्य का काम लिया जा सकता है, औषधि का नहीं। इसीलिए वेद के एकता सूत्र में 'समानं मनः' 'सं वो मनांसि जानताम्' 'समानमस्तु वो मनः' 'समानो मन्त्रः' 'समानी व आकूतिः !' इत्यादि पर ही बल दिया है। जिन संस्थाओं का ध्येय एक नहीं उनका मार्ग भी एक नहीं हो सकता। जिन व्यक्तियों का आदर्श एक नहीं हो सकता उनकी एक समिति नहीं बन सकती। विचारों की एकता के बिना मनुष्यों की एकता के लिए किए गये सभी प्रयत्नों का विफल होना स्वाभाविक है। भारत के वर्तमान नेता ६० वर्ष के अनवरत परिश्रम और परीक्षण के बाद इसी परिणाम

१. सत्यार्थ० पृ० १७०। २. सत्यार्थ० पृ० १७४। ३. सत्यार्थ० पृ० १४५।

पर पहुंचे हैं। देश का दुर्भाग्य है कि 'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः' के अनुसार वे अभी तक भी उसी मिथ्या मार्ग का अनुसरण किये जा रहे हैं। मिथ्या मार्ग का अवलम्बन करके कितना भी त्याग और बलिदान क्यों न किया जाये, वह फलीभूत नहीं हो सकता। महर्षि के सामने 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का वैदिक आदर्श था। भारतीय समस्या के समाधान के लिए भी इसी सार्वभौम सिद्धान्त को कार्यान्वित करना आवश्यक है। आर्यसमाज ने इसी ध्येय को सामने रखकर अपना कार्यक्रम बनाया।

एक दिन श्री मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने ऋषि से पूछा कि "भगवन्! भारत का पूर्ण हित कब होगा? यहां जातीय उन्नति कब होगी?" ऋषि ने उत्तर दिया कि "एक धर्म, एक भाषा और एक लक्ष्य बनाए बिना भारत का पूर्ण हित और जातीय उन्नति का होना दुष्कर है। सब उन्नतियों का केन्द्र स्थान ऐक्य है। जहां भाषा, भाव और भावना में एकता आ जाये, वहां सागर में नदियों की भांति, सारे सुख एक-एक करके प्रवेश करने लगते हैं। मैं चाहता हूं कि देश के राजे-महाराजे अपने शासन में सुधार और संशोधन करें। अपने राज्य के धर्म, भाषा और भावों में एकता पैदा करें। फिर भारत भर में आप ही आप सुधार हो जायेगा।" ऋषि दयानन्द के मतानुसार स्वराज्य प्राप्ति के लिए निम्नलिखित बातों का होना आवश्यक है :—

एक मत, एक सुख दुःख, एक हानि लाभ, एक व्यवहार, एक भाषा, एक शिक्षा, ब्रह्मचर्य पालन, सत्याचरण, दलितोद्धार, स्वदेशी का प्रयोग, सैन्य शक्ति का गठन, गोपालनादि। इन्हीं में से अधिकांश बातों का समावेश गांधीजी ने अपने रचनात्मक कार्यक्रम में किया है। उसमें एक मत सम्बन्धी बात को छोड़ दिया गया है जबकि यही सबसे आवश्यक है। ऋषियों द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण किए बिना अभीष्ट की सिद्धि नहीं हो सकती।

राष्ट्रध्वजः स्वराज्याधारश्च गौः ॥१२॥

(गौ का महत्त्व)

महात्मा गांधी की राजनीति में जो स्थान चर्खे का है ऋषि दयानन्द की राजनीति में वही स्थान गौ का है। गौ को ही उन्होंने भारतीय राष्ट्र की पताका और स्वराज्य का आधार माना है। वास्तव में गौ का महत्त्व चर्खे से कहीं अधिक है। अन्ततोगत्वा चर्खे का आधार भी गौ ही है। भारत सरीखे कृषि प्रधान देश की तो वह आत्मा है। भारतीय संस्कृति में अनादिकाल से गौ का इतना ही आदर चला आता है जितना मातृभूमि का। मातृत्व की कल्पना मातृभूमि और गौ दोनों में समान रूप से वर्तमान रही है। 'भारतमाता' और 'गौमाता' दोनों ही समान रूप से सेवा और रक्षा के पात्र रहे हैं। कभी-कभी तो इस देश में लोगों ने भारत को हानि पहुंचाकर भी गौ की रक्षा की है। भारत में व्यावहारिक अर्थशास्त्र का केन्द्रबिन्दु भी गौ ही रही है। सम्पत्ति का मुख्य आधार भी गोधन ही रहा है। वेद के राष्ट्रीय गान 'ओं आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्' आदि मन्त्र में भी गौ के ही गीत गाये गये हैं। ऋषि दयानन्द की राष्ट्रीयता का वह केन्द्र अथवा मुख्य स्तम्भ है। इसलिये उन्होंने इस विषय को लेकर, 'गोकरुणानिधि' के नाम से एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की है। ऋषि दयानन्द के ऋषित्व को सिद्ध करने के लिए उनकी गौविषयक कल्पना ही पर्याप्त है। स्वराज्य के साथ गौ का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि "जब आर्यों का राज्य था तब ये महोपकारक गाय आदि पशु नहीं मारे जाते थे तभी आर्यावर्त वा अन्य भूगोल देशों में बड़े आनन्द में मनुष्यादि प्राणी रहते थे क्योंकि दूध, घी, बैल आदि पशुओं की बहुताई होने से अन्न रस पुष्कल प्राप्त होते थे। जब से विदेशी मांसाहारी इस देश में आकर गौ आदि पशुओं के मारने वाले मद्यपायी राज्याधिकारी हुए हैं तब से क्रमशः आर्यों के दुःखों की बढ़ती होती जाती है क्योंकि

"नष्टे मूले नैव फलं न पुष्पम् ।"[१] यहां ऋषि ने गौ को ही सर्व सुखों का मूल माना है। गोकरुणानिधि में ऋषि ने विस्तार से इस विषय की चर्चा करते हुए लिखा है कि "गवादि पशु और कृष्यादि कार्यों" की रक्षा और वृद्धि होकर सब प्रकार के उत्तम सुख मनुष्यादि प्राणियों को प्राप्त होते हैं पक्षपात छोड़कर देखिये गाय आदि पशु और कृषि आदि कर्मों से सब संसार को असंख्य सुख होते हैं या नहीं ?[२]

सभी पशुओं की रक्षा का आदेश देते हुए भी ऋषि ने सबसे अधिक बल गौ पर ही दिया है। वह लिखते हैं कि "वर्तमान में परमोपकारक गौ की रक्षा में मुख्य तात्पर्य है।"[३] एक गौ से होने वाले लाभ का सविस्तार ब्यौरा लिखने के बाद उन्होंने गौ को सर्वोपरि सिद्ध करते हुए लिखा है "यद्यपि गाय के दूध से भैंस का दूध कुछ अधिक होता है तथापि जितना गाय के दूध और बैलों के उपयोग से मनुष्य को लाभ पहुंचता है उतना भैंस के दूध और भैंसों से नहीं क्योंकि जितने आरोग्यवर्द्धक और बुद्धिवर्धक आदि गुण गाय के दूध और बैल आदि में होते हैं उतने भैंस के दूध और भैंसों में नहीं हो सकते। इसलिए आर्य्यों ने गाय सर्वोत्तम मानी है।[४] इसके बाद ऋषि लिखते हैं कि "इनकी रक्षा में अन्न भी मंहगा नहीं होता क्योंकि दूध, घी आदि के अधिक होने से दरिद्री को भी खानपान में मिलेन पर न्यून ही अन्न खाया जाता है। अन्न के कम खावे से मल भी कम होता है। मल के कम होने से दुर्गन्ध भी न्यून होता है। दुर्गन्ध के स्वल्प होने से वायु और वृष्टि जल की भी विशेष शुद्धि होती है। इससे रोगों की न्यूनता होने से सबको सुख बढ़ता है।"[५] राजा को चेतावनी देते हुए वह लिखते हैं कि "गौ आदि पशुओं के नाश से राजा और प्रजा का भी नाश होता है क्योंकि जब पशु न्यून होते हैं तो दूध आदि पदार्थ

१. सत्यार्थ० पृ० १७१। २. गो० पृ० ६२१। ३. गो० पृ० ६२४। ४. गो० पृ० ६२२।
५. गो० पृ० ६२५

और खेती आदि कार्यों की भी घटती होती है ।"[१] ध्यान देकर सुनिये कि जैसा दुःख सुख अपने को होता है वैसा ही औरों को भी समझा कीजिए । और यह भी ध्यान में रखिए कि वे पशु आदि और उनके स्वामी तथा खेती आदि कर्म करने वाले प्रजा के पशु आदि और मनुष्यों के अधिक पुरुषार्थ से ही राजा का ऐश्वर्य अधिक बढ़ता है और न्यून से नष्ट होता है । इसीलिए राजा प्रजा से कर लेता है कि उनकी रक्षा यथावत् करे न कि राजा और प्रजा के जो सुख के कारण गाय आदि पशु हैं उनका नाश किया करे । इसलिए आज तक जो हुआ सो हुआ आगे आंख खोलकर सबके हानिकारक कर्मों को न कीजिए न करने दीजिए ।[२] शायद ऋषि ने इन शब्दों के कारण ही गो करुणानिधि में सरकार को राजद्रोह की गंध आने लगी थी ।

ऋषि उपदेश करते हैं कि "हे बन्धुवर्गो ! तुम्हारा तन, मन, धन गाय आदि की रक्षा या परोपकार में न लगा तो किस काम का है ।"[३] वेद में भी गौ को 'अघ्न्या' अर्थात् न मारने योग्य कहा है । ऋषि ने तो गौ की उपयोगिता और उसके राष्ट्रीय महत्त्व को देखते हुए गौ हत्यारे को उतना ही अपराधी माना है जितना मनुष्य की हत्या करने वाले को । अहिंसा का अभ्यास करने का सर्वोत्तम उपाय गौ सेवा है ।

गौ को सभी चाहते हैं और सभी इससे लाभ उठाते हैं । खादी किसी को चुभता है, किसी को भद्दा लगता है और किसी को मंहगा पड़ता है । गौ के विषय में ऐसी कोई बात नहीं हे । इसलिए गौ ही ऐसी वस्तु है जिस पर सभी लोग एक हो सकते हैं । गौ को समस्त राष्ट्र के एकीकरण और पारस्परिक सङ्गठन का आधार बनाकर देश की सर्वांगीण उन्नति की जा सकती है । इसी उद्देश्य से महर्षि दयानन्द ने ग्राम २ में

---

१. गो० पृ० ६२५ । २. गो० पृ० ६३३ । ३. गो० पृ० ६३२ ।

"गोकृष्यादिरक्षिणी" सभाओं की स्थापना का आदेश दिया है। यदि देश ने उस पर आचरण किया होता तो उसमें भुखमरी की सृष्टि न हुई होती। यदि होती भी तो उसका रूप इतना भयंकर कदापि न होता। 'गोधन' के ह्रास के साथ-साथ हमारा आर्थिक ह्रास हो रहा है। जब से गौ की पूजा जाती रही तभी से हमारा सुख और वैभव जाता रहा और मनु की उक्ति कि "अपूज्याः यत्र पूज्यन्ते पूज्यानान्तु व्यक्तिक्रमः। त्रीणि तत्र भविष्यन्ति दुर्भिक्षं मरणं भयम्" पूरी तरह चरितार्थ होने लगी।

कहां तक कहें, गौ भारत का अभिमान है, राष्ट्र का प्रतीक है, स्वराज्य का आधार है, सुखों का स्रोत है, सम्पत्ति का केन्द्र है, निर्धन का जीवन है, धनवान् की शोभा है, सरलता और सौम्यता की सजीव मूर्ति है, परोपकार की प्रतिमा है, और निःस्वार्थ सेवा का पार्थिव रूप है।

वही गौ ऋषि दयानन्द की राष्ट्रीयता का आधार है और उसकी सेवा करना प्रत्येक देशभक्त का प्रथम कर्त्तव्य है।

अविद्याऽन्यायाभिमानैर्नाशः ॥१३॥

(चेतावनी)

प्रायः किसी वस्तु को प्राप्त करने की अपेक्षा उसकी रक्षा करना कठिन होता है। राज्य के संरक्षण के लिए आवश्यक गुणों के अभाव में वह प्राप्त होकर भी नष्ट हो जाता है। महर्षि लिखते हैं— "परमात्मा की सृष्टि में अभिमानी, अन्यायकारी, अविद्वान् लोगों का राज्य बहुत दिन नहीं रहता। यह संसार की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि जब बहुत-सा धन असंख्य प्रयोजन से अधिक होता है तब आलस्य, पुरुषार्थ रहितता, ईर्ष्या, द्वेष विषयासक्ति और प्रमाद बढ़ता है। इससे देश में विद्या सुशिक्षा नष्ट होकर दुर्गुण और दुष्ट व्यसन बढ़ जाते हैं जैसे कि मद्य, मांस सेवन, बाल्यावस्था में विवाह और स्वेच्छाचरणादि दोष बढ़ जाते हैं और जब युद्ध विभाग में युद्ध विद्या कौशल और सेना इतनी बढ़े कि जिसका सामना

करने वाला भूगोल में दूसरा न हो तब आपस के विरोध से लड़कर नष्ट हो जाते हैं।"[1] किसी भी स्वतन्त्र राष्ट्र के नागरिकों को इन दोषों से सावधान रहने की अत्यन्त आवश्यकता है। तभी उनकी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रह सकती है।

वैदेशिकवस्तूपयोगे दारिद्र्यम् ॥१४॥

(स्वदेशी का उपयोग)

देश की आर्थिक स्थिति पर ऋषि दयानन्द ने गम्भीरतापूर्वक विचार किया। विचार ही नहीं किया अपितु निश्चित योजना भी तैयार की और उसके आधार पर देश के औद्योगिकीकरण के लिए विदेशों से पत्र-व्यवहार भी किया। दैव गति से वह अपनी योजनाओं को कार्यान्वित नहीं कर सके। स्वामीजी इस बात को बड़े दुःख के साथ अनुभव करते थे कि विदेशी माल की खपत से देश की कितनी हानि हो रही है। उन्होंने लिखा—"जब स्वदेश ही में स्वदेशी लोग व्यवहार करते और परदेशी स्वदेश में व्यवहार करे तो बिना दारिद्र्य और दुःख के दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता।"[2] विदेशी शासन द्वारा लगाये गये नमक कर तथा कानून जंगलात के विरुद्ध भी ऋषि दयानन्द ने आवाज उठाई।

तद् बहिष्कारः ॥१५॥

(विदेशी का बहिष्कार)

देश की आर्थिक स्थिति को सुधारने के उद्देश्य से विदेशी वस्तुओं तथा रहन-सहन का बहिष्कार करने और स्वदेशी वस्तुओं को अपनाने की प्रेरणा करते हुए उन्होंने बड़े जोरदार शब्दों में लिखा—"इतने ही से समझ लो कि (यूरोपियन) अपने देश के जूतों का भी कितना मान प्रतिष्ठा करते हैं उतना भी अन्य देशस्थ मनुष्यों का नहीं करते। देखो! कुछ

---

१. सत्यार्थ० पृ० १७६। २. सत्यार्थ० पृ० १६६।

सौ वर्ष से ऊपर इस देश में आये यूरोपियनों को हुए और आज तक यह लोग मोटे कपड़े आदि पहनते हैं जैसे कि स्वदेश में पहनते थे परन्तु उन्होंने अपने देश का चाल चलन नहीं छोड़ा और तुम में से बहुत से लोगों ने उनकी नकल कर ली। इससे तुम निबुर्द्धि और वे बुद्धिमान् ठहरते हैं। अनुकरण करना किसी बुद्धिमान् का कार्य नहीं। अपने देश वालों का व्यापार आदि में सहाय देते हैं, इत्यादि गुणों और अच्छे कर्मों से उनकी उन्नति है।"[१] संस्कार विधि में भी महर्षि ने विवाह संस्कार के प्रकरण में विशुद्ध स्वदेशी वस्त्रों का प्रयोग करना ठहराया है। "अन्य देशस्थ मनुष्यों का इतना भी मान नहीं करते जितना अपने देश के बने जूते का।"[२] लिखने वाले व्यक्ति के हृदय में विदेशी शासन और विदेशी वस्तुओं के प्रयोग के प्रति कितनी तीव्र घृणा होगी। छावनी निवासी ठाकुर ऊधोसिंह को विदेशी वेशभूषा में देखकर महर्षि ने बड़े मार्मिक शब्दों में कहा था— "क्या तुम इस विदेशी कपड़े से बने नये वेष से विभूषित होकर अपने पिता जी सें अधिक संस्कृत हो गये हो? अपने ही देश के वस्तु वेष को अपनाने में शोभा है।"[३] वास्तव में स्वामीजी के आचार-विचार रहन-सहन, वेष-भूषा, मस्तिष्क, हृदय, सभी पर स्वदेश की छाप थी। उनका अन्दर और बाहर सभी स्वदेशी के रङ्ग में रङ्गा था।

द्वीपान्तरे व्यापारः ॥१६॥

(विदेशों से व्यापार)

आचार्य दयानन्द राष्ट्र के आर्थिक विकास, व्यापक दृष्टिकोण तथा सर्वाङ्गीण जाति के लिए विदेशों के साथ व्यापार करना तथा इस निमित्त उनसे सन्धियां करना आवश्यक समझते थे। उन्होंने लिखा— "क्या बिना देश देशान्तर और द्वीप द्वीपान्तर में राज्य या व्यापार किये स्वदेश की उन्नति कभी हो सकती है?" धर्म के नाम पर प्रचलित अनेक

१. सत्यार्थ० पृ० २४६। २. सत्यार्थ० पृ० २४६। ३. श्रीमद्दयानन्द प्रकाश।

मिथ्या-विश्वासों में एक यह भी था कि समुद्र यात्रा से धर्म भ्रष्ट हो जाता है। इस प्रकार के विचार रखने वाले लागों की भर्त्सना करते हुए ऋषि ने लिखा है—"धर्म हमारे आत्मा और कर्तव्य के साथ है। जब हम अच्छे काम करते हैं तो हमको देश-देशान्तर और द्वीप द्वीपान्तर जाने में कुछ भी दोष नहीं लग सकता। दोष तो पाप के काम करने में लगते हैं।"[1] जो बाहर भीतर की पवित्रता करनी सत्यभाषणादि आचरण है वह जहां कहीं करेगा आचार और धर्मभ्रष्ट कभी न होगा और जो आर्यावर्त्त में रहकर भी दुष्टाचार करेगा वहीं धर्म और आचार भ्रष्ट कहायेगा।[2] विदेशियों के संसर्ग से सम्भावित दोषों के लग जाने की शंका का निराकरण करते हुए उन्होंने लिखा—"जो मनुष्य देश-देशान्तर के अनेक विध मनुष्यों के समागम, रीति भांति देखने अपना राज्य और व्यवहार बढ़ाने से निर्भय शूरवीर होने लगे और अच्छे व्यवहार का ग्रहण बुरी बातों के छोड़ने में तत्पर होके बड़े ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं। ... दोषों को छोड़ गुणों को ग्रहण करे तो कुछ भी हानि नहीं।"[3] आज इस भ्रम का सर्वथा लोप सा हो गया है। किन्तु इसका श्रेय युग प्रवर्तक आचार्य दयानन्द और आर्यसमाज को ही है।

सर्वोपरि श्रमजीविनः ॥१६अ॥

(श्रमजीवियों का स्थान)

"राजाओं के राजा किसान आदि परिश्रम करने वाले हैं और राजा उनका रक्षक है। जो (कर के रूप में) धन लेवे तो भी उस प्रकार से रहित होकर दुःख न पावें।"[4] किसानों और मजदूरों के प्रति कितना आदर था ऋषि के हृदय में। समाजवाद और साम्यवाद के समर्थक देखें कि ईश्वर और धर्म में पूर्ण आस्था रखने वाला मनुष्य भी मजदूरों का हितैषी हो सकता है। सत्य तो यह है कि छोटों और असहायों के प्रति जो स्नेह

१. सत्यार्थ० पृ० १६६। २. सत्यार्थ० पृ० १६८। ३. सत्यार्थ० पृ० १६६। ४. सत्यार्थ० पृ० १०४।

और सहानुभूति एक आस्तिक के हृदय में हो सकती है वह नास्तिक के हृदय में कदापि नहीं हो सकती। आस्तिक को अन्तःकरण से प्रेरणा मिलती है जो स्वाभाविक है किन्तु नास्तिक को राज्य से आदेश मिलता है जो नैमित्तिक है। महर्षि दयानन्द ने मजदूरों को राजाओं का भी राजा माना है क्योंकि उन्हीं के परिश्रम पर प्राणिमात्र के जीवन का निर्भर है। ऋषि दयानन्द का राजा भी किसानों का रक्षक या सेवक है उनका शोषक नहीं। यहां तक कि कर का परिमाण भी राज्य का आदेश नहीं अपितु किसानों की प्रसन्नता है। ऐसे राजतन्त्र में क्या कभी गरीबों का शोषण होना सम्भव है ? किन्तु इतना होने पर भी आचार्य दयानन्द के विधान में राज्य करने का अधिकार घास काटने, टोकरी ढोने और झाड़ू लगाने वाले मजदूरों को नहीं बल्कि राजनीति विशारद और बल पराक्रमयुक्त क्षत्रियों को है।

अविभाज्योऽयमार्यावर्त्तः ॥१७॥

(अखण्ड भारत)

आचार्य दयानन्द आर्यों के चक्रवर्ती राज्य के पक्षपाती थे। उन्होंने बड़े दुःख के साथ लिखा है—"अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की तो कथा ही क्या कहानी किन्तु आर्यावर्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है सो भी इस समय विदेशियों द्वारा पदाक्रान्त हो रहा है।"[1] स्पष्ट है कि महर्षि अखण्ड भारत के समर्थक थे। उनका यह कथन वेद पर आश्रित है। स्वयं वेद की उक्ति है—"अदितिः त्वमसि" अर्थात् हे मातृभूमि ! तू अखण्ड है। इतना ही नहीं महर्षि के इस कथन को भी कि आर्यों के राज्य का विस्तार हो, वेद का समर्थन प्राप्त है। मनुष्य कामना करता है कि "पृथिवीः

१. सत्यार्थ० पृ० १४५।

नः प्रथताम्"[1] अर्थात् हे भगवन्! हमारी मातृभूमि का विस्तार हो। किस प्रकार हो! ठीक वैसे ही जैसे कभी हमारे चक्रवर्ती राज्य की स्थापना हुई थी या बृहत्तर भारत की।

आर्यभाषा हि राष्ट्रभाषा ॥१८॥

(राष्ट्र-भाषा)

हम पहले लिख आये हैं कि ऋषि दयानन्द राष्ट्र की एकता और उसके विकास के लिए एक भाषा का होना अत्यन्त आवश्यक समझते थे। भारत महादेश है किन्तु वह एक राष्ट्र है। अनेक भाषाओं और बोलियों के होने पर भी इस देश में १५ भाषायें ऐसी हैं जिनमें साहित्य पाया जाता है। आचार्य दयानन्द ने आर्यभाषा (हिन्दी) को राष्ट्रभाषा मानते हुए प्रत्येक आर्य के लिए उसका जानना अनिवार्य ठहराया है। स्वयं संस्कृत भाषण करने, पठन पाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने पर भी उन्होंने अपने समस्त ग्रन्थों को हिन्दी में ही लिखा। वास्तव में हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा होने का स्वाभाविक सामर्थ्य प्राप्त है। उसे राष्ट्रभाषा बनाने में उसके गुणों और शक्ति ने ही सहायता दी है। ब्रह्मसमाज की आलोचना के प्रकरण में महर्षि ने स्वदेशी भाषा की उपेक्षा करके विदेशी भाषा पर अभिमान करने वालों की बलपूर्वक भर्त्सना की है। स्वदेशाभिमानी दयानन्द हिन्दी की तुलना में और किसी भाषा को स्वीकार कर सकते थे। नीचे दिये हुए गुणों के आधार पर हिन्दी ही इस देश की राष्ट्रभाषा हो सकती है—हिन्दी इस देश की भाषा है और उसका आधार भारतीय सभ्यता, संस्कृति एवं परम्परा है। हमारा आत्मगौरव और हमारी राष्ट्रीयता हमें विवश करते हैं कि हम उसी भाषा को राष्ट्रभाषा के रूप में अपनायें जिसकी आत्मा और शरीर पूर्णरूप से स्वदेशी हों।

२—सरकारी आंकड़ों के अनुसार ६१ प्रतिशत व्यक्ति ऐसे हैं जो

उन भाषाओं को बोलते हैं जिनके कोष का समन्वय संस्कृत कोष से हो सकता है। बंगाली, गुजराती, मराठी, पंजाबी, कनाड़ी आदि समस्त भाषाओं का आधार संस्कृत है। संस्कृत की प्रियतम पुत्री होने के कारण हिन्दी ही भारत की समस्त प्रान्तीय भाषाओं के निकटतम है। अतः संस्कृत निष्ठ हिन्दी ही हमारी अन्तःप्रान्तीय अथवा राष्ट्रभाषा हो सकती है।

३—राजनैतिक दृष्टिकोण से देश के बहुमत की भाषा को राष्ट्रभाषा बनने का अधिकार है। भारतवर्ष में चालीस में पैंतीस करोड़ से भी अधिक व्यक्ति ऐसे हैं जो हिन्दी जानते हैं। उर्दू जानने वालों की संख्या तो एक हजार में सात अर्थात् एक प्रतिशत से भी कम है।

४—हमारे देश में १० प्रतिशत से भी कम लोग पढ़े-लिखे हैं। शेष ६० प्रतिशत को शीघ्र से शीघ्र शिक्षित बनाने की आवश्यकता है। यह तभी सम्भव है जब उनकी शिक्षा के लिए ऐसी भाषा को अपनाया जाये जो उनकी बोलचाल की भाषा के समीपतम हो और जिसकी लिपि के सीखने में कम-से-कम समय लगे। ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि ऐसी भाषा हिन्दी ही है और नागरी लिपि तो अपनी सरलता वैज्ञानिकता और पूर्णता के लिए संसार भर में प्रसिद्ध है। इसलिए इस देश की जनता के कल्याण की दृष्टि से भी हिन्दी को राष्ट्रभाषा और नागरी को राष्ट्र-लिपि के रूप में अपनाना आवश्यक है।

५—भारत का सम्बन्ध कोरिया, चीन, जापान, तिब्बत, बर्मा, स्याम, बाली, लंका आदि के साथ बहुत पुराना है। इस सम्बन्ध का आधार मुख्यतः सांस्कृतिक एवं धार्मिक है। संस्कृति और धर्म का आधार संस्कृत है। इन देशों से अपना सम्बन्ध बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि हमारी राष्ट्रभाषा का स्वरूप संस्कृतनिष्ठ हो। वह भाषा हिन्दी के सिवा और कौन हो सकती है ?

६—भारत से बाहर बसने वाले हिन्दीभाषी भारतीय लोगों के साथ सम्बन्ध बनाये रखने के लिए भी हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा बनाना आवश्यक है।

७—हिन्दी में सब प्रकार का साहित्य है। संस्कृत की पुत्री होने के कारण उसे संस्कृत का अपरिमित ज्ञान एवं शब्दभण्डार सहज ही मिला हुआ है। उन्नति और विकास के लिए इस गुण का होना अनिवार्य है।

विश्वभाषा तु संस्कृतम् ॥१६॥

(विश्व-भाषा)

जिस प्रकार विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के निकटतम होने से हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है उसी प्रकार विभिन्न राष्ट्र-भाषाओं के निकटतम होने से संस्कृत अन्तर्राष्ट्रीय भाषा अथवा विश्वभाषा है। हमारा विश्वास है कि आदि सृष्टि में सभी मनुष्य एक स्थान में पैदा हुए थे। एक ही स्थान में पैदा होने वाले मूलपुरुषों की भाषा एक ही होनी चाहिए। यदि ऐसा न होता तो भाषा का प्रयोजन ही सिद्ध न होता। कालान्तर में वे लोग पृथ्वी के विभिन्न भागों में जाकर बस गये। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों एक-दूसरे से दूर हो जाने के कारण उनकी भाषाओं में अन्तर होता गया। तथापि उन सबका आधार वही भाषा रही जिसे वह एक स्थान पर रहते हुए बोलते थे। प्रो. मैक्समूलर ने भाषा की ऐक्यता पर विचार करते हुए अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'साइंस आव दी लैंग्वेज' में लिखा है कि "समस्त भाषा परिवार एक ही प्राचीन भाषा की शाखायें हैं। अर्थात् आदि मनुष्यों की एक ही भाषा थी।" समस्त भाषाओं को आर्य, सेमेटिक, और तुरानी भाषाओं में विभक्त करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'निस्संदेह मनुष्य की भाषा एक ही थी। भाषाओं के बिगड़ने का कारण मनुष्य की असावधानी है।' इस विषय में और भी अनेक विद्वानों का यही मत है। मिश्र, बैबेलोनिया, मेसोपोटामिया आदि देशों में प्राप्त

अत्यन्त प्राचीनकाल की ईंटों और ताम्रपत्रों पर इन्द्र, वरुण, मित्र आदि शब्द देखकर पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि समस्त विश्व में एक ही धर्म और एक ही भाषा का प्रचलन था।

अमरीका में 'कपीरा' और 'मत्स्यासन' नाम से पुकारे जाने वाले प्रदेश भी इसी के द्योतक हैं। इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिक में लिखा है कि 'अनेक शब्द मद्रास और आस्ट्रेलिया में एक ही रूप में बोले जाते हैं।' वेल्स के उत्तर में बसने वाला एक जनसमुदाय अभी तक भी संस्कृत से मिलती-जुलती भाषा का प्रयोग करता है। वैदिक पुस्तकालय कलकत्ता का उद्घाटन करते हुए सर नृपेन्द्रनाथ सरकार ने कहा था कि उन्हें जनेवा में एक ऐसा युवक मिला जो संस्कृत बोलता था। यह पूछे जाने पर कि उसने किस यूनिवर्सिटी में संस्कृत की शिक्षा पाई है उसने उत्तर दिया कि मैं लेटविया का रहने वाला हूं। संस्कृत मेरी मातृभाषा है।

वह मूलभाषा संस्कृत है। वही आर्य, सेमेटिक और तुरानी समस्त भाषाओं की जननी है। संसार में जितनी भी भाषायें फैली हुई हैं वे सभी संस्कृत के रूपान्तर अथवा अपभ्रंश हैं। भाषा परिवर्तन का सिद्धान्त सर्वमान्य है। जिस भाषा की रोकथाम का अच्छा प्रबन्ध न हो वह कुछ समय के बाद परिवर्तित हो जाती है। परिवर्तन के कारण अनेक होते हैं। कालान्तर में वह इतनी बदल जाती है कि उसे पहचानना भी कठिन हो जाता है। किन्तु उसके मूलतत्त्वों को जानने वाला इतना तो कह ही सकता है कि "भाई, मालूम तो वही होती है। बहुत दिनों में देखा है, इसलिए जल्दी से नहीं पहचान पाया।" ठीक वैसे ही जैसे हम इंग्लैंड से २० वर्ष बाद लौटने वाले अपने किसी मित्र से कह दें कि "तुम तो वहां जाकर बिलकुल ही बदल गये। पहचाने भी नहीं जाते।" यही हाल भाषा का है। यह दिखाने के लिए कि किस प्रकार सभी भाषायें संस्कृत से निकली हैं हम संसार की प्रधान-प्रधान भाषाओं में पाये जाने वाले

शब्दों का संस्कृत के शब्दों से मिलान करते हैं। पुस्तक का आकार बढ़ जाने के भय से केवल नमूने के रूप में बहुत थोड़े-थोड़े शब्द दिये जा रहे हैं। पाठक देखेंगे कि अपनी माता संस्कृत से पृथक हो जाने पर भी उनमें कुछ न कुछ समानता अभी तक विद्यमान है :—

संस्कृत	ज़न्द	अर्थ
असुर	अहूर	परमात्मा
सोम	होम	वनस्पति
अजा	अजा	बकरी
आहुति	आजुति	आहुति
वैद्य	वैद्य	वैद्य
वायु	वायु	हवा

संस्कृत	फारसी	अर्थ
तनु	तन	शरीर
हस्त	दस्त	हाथ
ग्रीवा	गरेबां	गरदन
पितर	पिदर	पिता
आप	आब	पानी
विष्टर	बिस्तर	बिछौना

संस्कृत	अंग्रेजी	अर्थ
मातर	मदर	माता
सूनु	सन	पुत्र
त्रि	थ्री	तीन
समिति	कमिटी	सभा
पशुचर	पासचर	चरागाह
द्वार	डोर	दरवाजा

संस्कृत	फारसी	अंग्रेजी	अर्थ
कर्पूर	काफूर	कैंफर	कपूर
द्वार	दर	डोर	दरवाजा
दन्त	दन्द	डेण्ट	दांत
मूष	मूश	माउस	चूहा
चन्दन	सन्दल	सैंडल	चन्दन
तारा	सितारा	स्टार	तारा

संस्कृत	ग्रीक	अर्थ
श्वान	क्वान	कुत्ता
अश्मन्	अक्मन	पहाड़
शिरस	केरोस	सिर
ददर्श	डेकक	देखा

संस्कृत	लेटिन	अर्थ
अग्नि	इगनिस	आग
अयस	एस	लोहा
पर्जन्य	पर्कुनस	बादल
अजिर	अजिलिस	गतिवान्

संस्कृत	मिश्री	अर्थ	संस्कृत	अरबी	अर्थ
आदि	आत	आरम्भ	हर्म्य	हरम	महल
आप	आप	पानी	अन्तकाल	इन्तकाल	मृत्यु
पुष्प	पुष	फूल	औरस	वारिस	पुत्र
वास	आस	घर	शरद्	शिरत	सर्दी
सेवा	सेव	पूजा	धनी	गनी	धनवान्

संस्कृत	चीनी	अर्थ	संस्कृत	जापानी	अर्थ
स्थान	तान	स्थान	द्यौ	दे	सूर्योदय
लिंग	लङ्ग	चिन्ह	बंहुत्व	भोत्तो	बहुत
जन	जिन	मनुष्य	कनक	किनका	सोना
होम	घोम	हवन	अहिफेन	आहेन	अफीम

इसी प्रकार जर्मन, फ्रेंच, स्लाविक तथा अन्यान्य भाषाओं के शब्दों का संस्कृत के शब्दों से मिलान करने पर यही निष्कर्ष निकलता हैं कि ये भाषायें भी कोई स्वतन्त्र भाषायें नहीं प्रत्युत संस्कृत का ही अपभ्रंश हैं। संस्कृत के कुछेक शब्दों का व्यापक रूप देखिये—

संस्कृत—अम्ब (माता)

आमो—सीरियन, अम्म—सामेपेडिक; उम्म—अरबी, अम्मा—द्राविड़ी, अम्माल—सीथियन, अम—मलयाली, मा—चीनी, अप्पा—तुलू।

संस्कृत—द्यौ (सूर्य या सूर्यलोक)

तौः—चीनी, दे—जापानी, डे—अंग्रेजी, दिवम्—तेलगू, त्यू—टयूटानिक, ज्योस—ग्रीक।

संस्कृत—मेरु (हिमालय का भाग)

मौरू—ज़न्द, मेरोस—ग्रीक, मेरई—मिश्री, मेरुख—तुर्की।

संस्कृत—इरा (पृथ्वी)

एरा—ग्रीक, तेरा—लेटिन, एर्दे—जरमन, अर्थ—अंग्रेजी, अर्ज—अरबी, ऐरेछ—हिब्रू।

कहां तक लिखें। संसार की समस्त भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने पर निश्चय हो जाता है कि उन सभी का आधार संस्कृत है। जब ऐसा है तो संस्कृत के अतिरिक्त और कौन-सी भाषा विश्वभाषा हो सकती है। भाषा जिसका साधन हैं वह समस्त ज्ञान-विज्ञान संस्कृत में पूर्ण है। इन सब बातों को देखकर ही महर्षि दयानन्द ने समस्त आर्यों के लिए संस्कृत का जानना भी अनिवार्य बताया था। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' हमारा लक्ष्य है। जब समस्त संसार के लोग आर्य बन जायेंगे और ऋषि के आदेशानुसार सभी संस्कृत जानते होंगे तो वह स्वतः ही विश्वभाषा बन जायेगी। यह कोरी कल्पना अथवा सुख स्वप्न ही नहीं अपितु ध्रुव सत्य है। तर्क और विज्ञान के युग में संस्कृत भाषा और नागरी लिपि के सामने संसार की कोई भाषा और लिपि नहीं ठहर सकती। एक न एक दिन संसार उन्हें अपनायेगा ही।

गुणगणोपगूढो हि राजा ॥२०॥

(राजा कौन हो)

ऋषि दयानन्द के विधान में राजा का पुत्र ही राजा हो—ऐसी बात नहीं है। राजा का लक्षण करते हुए उन्होंने लिखा है—'जो उन सब (राज सभासदों) में सर्वोत्तम गुण कर्म स्वभाव युक्त महान् पुरुष हो उसको राज सभा का पति रूप मान के सब प्रकार से उन्नति करें।[1] गुणों के

१. सत्यार्थ० पृ० ८६।

आधार पर राष्ट्र में सर्वोत्कृष्ट व्यक्ति ही राजा बनने का अधिकारी है। वह जनता द्वारा निर्वाचित होता है। वंश परम्परा से राजा होने वाले के लिए भी प्रजा की अनुमति प्राप्त कर लेना आवश्यक है। महर्षि ने कई स्थलों पर राजा के चुने जाने का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है—हे मनुष्यो, जो इस मनुष्य समुदाय में परमैश्वर्य का कर्त्ता हो... उसी को राजा या सभापति करो। हे प्रजाजनो, तुम... सम्मति करके सर्वत्र पक्षपात रहित, पूर्ण विद्या विनय युक्त, सबके मित्र सभापति राजा को सर्वाधीश मानकर सब भूगोल शत्रु रहित करो।[1] इतना अवश्य है कि उसका चुनाव प्रतिवर्ष नहीं होता। जब तक उसमें विकार नहीं होता, तब तक वही बना रहता है। महर्षि लिखते हैं, "वह सभेश राजा इन्द्र अर्थात् विद्युत् के समान शीघ्र ऐश्वर्यकर्ता, वायु के समान सबसे प्राणवत् प्रिय और हृदय की बात जानने हारा, यम पक्षपात रहित न्यायाधीश के समान बर्तनेवाला, सूर्य के समान न्यायधर्मविद्या का प्रकाशक, अन्धकार अर्थात् अविद्या अन्याय का निरोधक, अग्नि के समान दुष्टों को भस्म करने वाला, वरुण अर्थात् बांधने वालों के सदृश दुष्टों को अनेक प्रकार से बांधने वाला, चन्द्रमा के तुल्य श्रेष्ठ पुरुषों को आनन्ददाता, धनाध्यक्ष के समान कोषों को पूरा करने वाला, सभापति होवे। जो सूर्यवत् प्रतापी, सबके बाहर-भीतर मनों को अपने तेज से तपानेहारा, जिसमें पृथ्वी में कड़ी दृष्टि से देखने में कोई भी समर्थ न होवे, और जो अपने प्रभाव से अग्नि, वायु, सोम, धर्मप्रकाशक, धनवर्धक, दुष्टों का बन्धनकर्ता, बड़े ऐश्वर्यवाला होवे वही सभाध्यक्ष सभेश होने के योग्य है।"[2] ऐसे राजा के राजतन्त्र में कौन दुखी रह सकता है? कौन उसे बदलना चाहेगा? ऐसे साम्राज्य का कौन विरोधी होगा?

---

१. सत्यार्थ० पृ० ८६। २. सत्यार्थ० पृ० ६०।

सभाधीनो राजा जानराज्याय ॥२१॥

(एकतन्त्र का निषेध)

आचार्य दयानन्द का राजा ईश्वर का प्रतिनिधि नहीं, बल्कि जनता का प्रतिनिधि है। वह निर्दोष या निर्भ्रान्त नहीं बल्कि अपने अपराधों के लिए प्रजा से अधिक दण्डनीय है। वह प्रजा का स्वामी नहीं, संरक्षक मात्र है और उसकी स्थिति वर्तमान वैधानिक शासक से अधिक नहीं है। वह जनता का नेता होते हुए भी उसका अनुयायी है। ऋषि दयानन्द का राजतन्त्र प्रजातंत्र का दूसरा नाम है। उनमें नाम भेद है सही किन्तु रूपभेद नहीं। इन दोनों में विरोधाभास भले ही हो किन्तु विरोध नहीं। तानाशाही से होने वाली हानियों का जिक्र करते हुए ऋषि लिखते हैं—"जो प्रजा से स्वतन्त्र स्वाधीन राजवर्ग रहे तो राज्य में प्रवेश करके प्रजा का नाश किया करे। जिस लिये अकेला राजा स्वाधीन या उन्मत्त होके प्रजा का नाशक होता है अर्थात् वह राजा प्रजा को खाये जाता है। इसलिए किसी एक को स्वाधीन न करना चाहिए।

जैसे सिंह व मांसाहारी हृष्ट-पुष्ट पशु को मारकर खा लेते हैं वैसे स्वतन्त्र राजा प्रजा का नाश करता है अर्थात् किसी को अपने से अधिक नहीं होने देता श्रीमान् को लूट-खसोट अन्याय से दण्ड देके अपना प्रयोजन सिद्ध करेगा।[1] एक तन्त्र का कितना विशद चित्रण है। इन शब्दों में मन्त्रिमण्डल का जिक्र करते हुए उन्होंने लिखा है—"विशेष सहाय के बिना जो सुगम कर्म है वह भी एक के करने में कठिन हो जाता है। जब ऐसा है तो महान् राजकर्म एक से कैसे हो सकता है। इसलिए एक को राजा और एक को बुद्धि पर राज्य के कार्य का निर्भर करना बहुत ही बुरा काम है।"[2] यहां भी ऋषि ने एकाधिकर के विरुद्ध चेतावनी दी है। पुनः यजुर्वेद के एक मंत्र की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा

१. सत्यार्थ० पृ० ८६। १. सत्यार्थ० पृ० ६३।

है—"प्रजा को सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उनके देश का शासन किसी सभा के अधीन न हो न कि किसी एक व्यक्ति के" ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में भी ऋषि लिखते हैं—"राज्य के लिए एक को राजा कभी न मानना चाहिए। क्योंकि जहां एक को राजा मानते हैं वहां सब प्रजा दुःखी और उसके उत्तम पदार्थों का अभाव हो जाता है इसी से किसी की उन्नति नहीं होती।"[1] एक तन्त्र की आलोचना और प्रजातन्त्र का समर्थन इससे अधिक और क्या हो सकता है ? स्वयं वेद ने स्वराज्य को 'बहुपाय्य'[2] बहुत पैरों वाला अर्थात् जिसका शासन कार्य अनेक लोग मिलकर करते हैं, अकेला राजा नहीं करता कहा है।

न जनमतोपेक्षा नित्यम् ॥२२॥

(प्रजातन्त्र)

स्वामीजी के मत में राजा को कभी भी प्रजा की सम्मति की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। उसे वीटो (धारा सभा के निर्णय को अस्वीकार करने) का अधिकार नहीं होना चाहिए। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—"प्रजा की साधारण सम्मति के विरुद्ध राजा व राजपुरुष कभी न चलें।"[3] न्यून से न्यून दश विद्वानों अथवा बहुत न्यून हो तो तीन विद्वानों की सभा जैसी व्यवस्था करे उस धर्म अर्थात् व्यवस्था का उल्लंघन कोई न करे।[4]

स्वेच्छाचारितापि निषिद्धा ॥२३॥

(स्वेच्छा चारिता का निषेध)

राजा की स्वेच्छाचारिता। (Power of Certification) को रोकने के लिए ऋषि लिखते हैं—"राजा अपने मन से एक भी कार्य न करे जब तक सभासदों की अनुमति न हो।"[5] ऋषि दयानन्द का राजा वर्तमान वायसराय की तरह आर्डिनेन्स जारी नहीं कर सकता। वास्तव में सभा

१. ऋग्वेद० पृ० ५५१। २. ऋग्० ५।६।६।६। ३. सत्यार्थ० पृ० १०४। ४. सत्यार्थ० पृ० ९१। ५. सत्यार्थ० पृ० ९६।

का निर्णय प्रजा का निर्णय होता है। इसलिए वह प्रजा और उसके प्रतिनिधि राजा के लिए समान रूप से माननीय है।

बहुपक्षाश्रितो निर्णयः ॥२४॥

(निर्णय का आधार)

सभा में बहुपक्ष का निर्णय ऋषि को मान्य है। वह लिखते हैं कि "सभापति (राजा) को उचित है कि सभासदों का पृथक्-पृथक् अपना-अपना विचार और अभिप्राय सुनकर बहुपक्षानुसार कार्य करे।"[1]

प्रजाधीना सभा ॥२५॥

महर्षि ने राजा और सभा को प्रजा के अधीन माना है। सभा के समस्त सदस्यों का प्रजा द्वारा निर्वाचित होना अनिवार्य है। राजा द्वारा मनोनीत सदस्यों के लिए राजसभा में कोई स्थान नहीं है।

अन्योन्याश्रिताः सर्वे ॥२६॥

(आदर्श प्रजातन्त्र)

प्रजातन्त्र पर अवलम्बित शासनचक्र का उल्लेख करते हुए ऋषि लिखते हैं—"जो प्रजा न हो तो राजा किसका ? राजा न हो तो प्रजा किसकी कहावे ? दोनों अपने अपने काम में स्वतन्त्र और प्रीतियुक्त मिले हुए काम में परतन्त्र रहें।"[2] राजा जो सभापति है तदाधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के अधीन प्रजा राजसभा के अधीन रहे।[3] यही आदर्श-जनतन्त्र है कि सभी एक-दूसरे के अधीन हों। न स्वेच्छाचारिता को प्रोत्साहन मिले न अराजकता बढ़े।

नाज्ञानामधिकारः पारिषद्ये ॥२७॥

(सभासदों के लक्षण)

राजसभा में मूर्खों का प्रवेश निषिद्ध है। येन केन प्रकारेण वोटों

---

१. सत्यार्थ० पृ० ९३। २. सत्यार्थ० पृ० १०४ ३. सत्यार्थ० पृ० १०४

के बल पर कोई व्यक्ति सभासद् नहीं बन सकता। आर्षपद्धति में केवल विद्वानों को ही राजसभा में बैठने और सम्मति देने का अधिकार है। महर्षि की दृढ़ सम्मति है कि "यदि एक अकेला सब वेदों को जानने हारा द्विजों में उत्तम संन्यासी जिस धर्म की व्यवस्था करे वही श्रेष्ठ धर्म है क्योंकि अज्ञानियों के सहस्रों, लाखों करोड़ों मिल के जो व्यवस्था करें उसको कभी न मानना चाहिए। इसलिए तीनों अर्थात् विद्यासभा, धर्मसभा और राजसभाओं में मूर्खों को कभी भरती न करे। किन्तु सदा विद्वान् और धार्मिक पुरुषों का स्थापन करे।"[1] ऋषि दयानन्द का जनतन्त्र विवेकहीन नहीं है। शासन व्यवस्था मजदूरों के हाथ में नहीं बल्कि विद्वानों के हाथ में ही है। इस विधान में जो स्थान योग्यता को प्राप्त है वह वोटों को नहीं।

स्वदेशोत्पन्नाः निःस्पृहाः शास्त्रविदश्चामात्याः ॥२८॥

(मन्त्रिमण्डल)

आचार्य दयानन्द के मतानुसार मन्त्रिमण्डल में सात या आठ मन्त्री होने चाहिए। कांग्रेस द्वारा राज्य के सभी विभागों विशेषतः शासन परिषद् के पूर्ण भारतीयकरण पर बल दिया जाता था। महर्षि ने उससे ७० वर्ष पूर्व इस भावना को जन्म दिया था। उन्होंने सबसे अधिक बल मन्त्रियों के 'स्वराज्य स्वदेश में उत्पन्न होने' पर दिया है। किसी भी देश के शासन में किसी विदेशी का हाथ होना सर्वथा अवांछनीय है। मन्त्री ऐसे हों जो "विद्वान्, शूरवीर, चतुर तथा अच्छे प्रकार सुपरीक्षित हों और जिनका लक्ष्य अर्थात् विचार कभी निष्फल न हो।"[2] ये सब निःस्वार्थ होकर प्रजा के हितार्थ यत्न किया करें।

संयुक्तोत्तरदायित्वम् ॥२९॥

(संयुक्त उत्तरदायित्व)

स्वामीजी ने मन्त्रिमण्डल के संयुक्त उत्तरदायित्व का प्रतिपादन

१. सत्यार्थ० पृ० ९१। २. सत्यार्थ० पृ० ९३।

किया है। उनका कथन है कि "तीनों सभाओं (विद्यार्यसभा, धर्मार्य सभा व राजार्य सभा) की सम्मति से राजनीति के उत्तम नियम और नियमों के अधीन सब लोग बरतें। सबके हितकारक कामों में सम्मति करें। सर्वहित करने के लिए परतन्त्र और धर्मयुक्त कामों में अर्थात् जो जो निज के काम हैं उन उन में स्वतन्त्र रहें।"[१] स्वामीजी ने और भी स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि "राजधर्म का तीनों सभा पालन करे।"[२] इस प्रकार हम देखते हैं कि सब विभागों की स्वतन्त्र पृथक् सत्ता तथा कार्यक्षमता को स्वीकार करते हुए भी सर्वहितकारी कामों में मन्त्रियों का संयुक्त उत्तरदायित्व माना गया है। जिनका लक्ष्य-प्रजा का हित एक है और जिन्होंने एक ही दिशा में प्रयत्न करना है उनका एक साथ मिलकर चलना आवश्यक है। किन्तु जिन व्यक्तियों अथवा दलों के ध्येय भिन्न हैं वे ऐसा नहीं कर सकते। इसलिए मंत्रिमण्डल में समान विचार रखने वाले ही व्यक्ति सम्मिलित किए जाने चाहिए। विषम विचार रखने वालों का सामयिक गठबन्धन हो जाने पर भी उनके विरोध की आशंका सदैव बनी रहती है।

गुणैरुत्कर्षो न जन्मादिना ॥३०॥

(अधिकारों का बंटबारा)

अधिकारों का प्रश्न और उसका समाधान वर्तमान राजनैतिक संघर्ष की सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या है। भारत में ही नहीं संसार के अन्य देशों में भी अधिकांश लड़ाई-झगड़ों का सबसे बड़ा कारण यही है। स्वतन्त्र राष्ट्रों की भी बहुत बड़ी शक्ति इस संघर्ष में नष्ट हो रही है। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं की तह में भी यही अधिकार लिप्सा काम कर रही है। भारत में वर्तमान अशान्ति का यही सबसे बड़ा कारण है। विभिन्न दल, संरक्षण, प्रतिशतक आदि इसी के भिन्न-भिन्न रूप हैं। किसी मौलिक

१. सत्यार्थ० पृ० ८६। २. सत्यार्थ० पृ० ८८।

सिद्धान्त के न अपनाने से इस समस्या को सुलझाने का जितना प्रयत्न किया जाता है उतनी ही वह उलझती जाती है। प्रश्न है—किसको क्यों, और क्या अधिकार मिलने चाहिए ! आचार्य दयानन्द की राज्य व्यवस्था में इसका एक ही उत्तर है—जो जिस कार्य के उपयुक्त हो उसे उसकी उपयोगिता के आधार पर ही उस कार्य के करने का अधिकार मिलना चाहिए। इस एक ही सिद्धान्त को अपना लेने से सब समस्याएं सहज में हल हो जाती हैं। महर्षि लिखते हैं—"महा विद्वानों को विद्या सभाऽधिकारी, प्रशंसनीय धार्मिक पुरुषों को राजसभा के सभासद् और जो उन सबमें सर्वोत्तम गुण कर्म स्वभाव युक्त महान् पुरुष हो उसको राजसभा का पति रूप मानकर सब प्रकार से उन्नति करें।"[1] प्राचीन आर्यों ने इस सिद्धान्त को वर्णव्यवस्था का नाम देकर निश्चित योजना के रूप में उपस्थित किया है। वैदिक राज्यप्रणाली में सबको अपने और अपने ही स्थानों के उपयुक्त अधिकार प्राप्त हैं। किसी कुल विशेष में जन्म लेने, धर्म विशेष को स्वीकार करने अथवा दल विशेष में सम्मिलित होने के कारण ही किसी को कोई पद विशेष प्राप्त नहीं होना चाहिए। आज संसार में वोटों के आधार पर कर्तव्यों का निर्णय किया जा रहा है। प्रौढ़ मताधिकार को स्वर्ग का द्वार समझा जा रहा है। परिणाम स्पष्ट है। केवल वोटों के बल पर चुने हुए व्यक्ति के सामने राष्ट्र का हित नहीं बल्कि अपना और अपने वोटरों का हित साधन ही मुख्य कर्तव्य होता है। इससे आपाधापी को प्रोत्साहन मिलता है और स्वार्थों का संघर्ष बढ़ता है। इसलिए महर्षि ने स्पष्ट लिखा है—"जिस-जिस पुरुष में जिस-जिस वर्ण के गुण कर्म हों उस-उस वर्ण का अधिकार देना।"[2] प्रत्येक नागरिक को राज्य व्यवस्था में अधिकार देना और उसे किसी भी पद पर आसीन

१. सत्यार्थ० पृ० ८६। २. सत्यार्थ० पृ० ५७।

करना अनुचित है। हरेक कार्य के लिए राष्ट्र में वर्तमान योग्यतम व्यक्ति को नियुक्त करना ही पूर्ण राष्ट्रीयता है। इसमें न धर्म का विचार किया जाये और न दल का। महर्षि ने सभापति, प्रधान सेनापति, मुख्य न्यायाधीश, अर्थमन्त्री, राजदूत आदि के गुणों का सविस्तार वर्णन किया है। इन पदों के अनुरूप गुण रखने वाले व्यक्तियों को ही मन्त्रिमण्डल में स्थान मिलना चाहिए। इस आधार पर निर्मित मंत्रिमंडल में चाहे सबके सब (भारत में) हिन्दू आ जायें और चाहे मुसलमान या कोई और। इसी आधार पर नौकरियां दी जानी चाहिए। राजनैतिक दलबन्दियों का अन्त करने और निर्दोष साम्यवाद की स्थापना करने का यही सर्वोत्तम उपाय है। इस व्यवस्था में योग्यतानुरूप सभी के लिए विकास का मार्ग खुला है। इसी में राष्ट्र की सर्वाङ्गीण उन्नति निहित है। वास्तव में गुण कर्म स्वाभावाश्रित वर्ण-व्यवस्था ही मनुष्य समाज के समस्त रोगों की एक मात्र औषधि है।

चारचक्षुषो राजानः ॥३१॥

(गुप्तचर- सी. आई. डी.)

राज्य के कर्मचारियों के आचरण तथा प्रजा की वस्तुस्थिति से अवगत रहने के लिए गुप्तचर विभाग की आवश्यकता होती है। ऋषि लिखते हैं— "जो नित्य घूमने वाला सभापति हो उसके अधीन गुप्तचर अर्थात् दूतों को रखे जो राजपुरुष और भिन्न-भिन्न जाति के रहें। उनसे सब राज और प्रजा पुरुषों के सब दोष और गुण गुप्त रीति से जाना करें। जिनका दोष हो उनको दण्ड और जिनका गुण हो उनकी सदा प्रतिष्ठा किया करे।"[1] ऋषि दयानन्द की सी.आई.डी. जनता के साथ-साथ राजपुरुषों की गतिविधि पर भी दृष्टि रखती है।

---

१. सत्यार्थ० पृ० ९८।

सेनाबलाश्च ॥३२॥

(सेना की आवश्यकता)

संसार में शक्ति का राज्य है। जिसकी लाठी उसकी भैंस सदा रही है और रहेगी। संसार के इतिहास के पन्ने उलट जाइए। इस नियम का एक भी अपवाद कहीं नहीं मिलेगा। भगवान् राम जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम और भगवान् कृष्ण जैसे योगिराज को भी शक्ति का उपासक बनना पड़ा और समय आने पर सेना का आश्रय लेना पड़ा। विश्वामित्र ऋषित्व का पूरा बल लगाकर भी यज्ञ की रक्षा करने में असमर्थ रहे और आखिर महाराजा दशरथ की शरण में आना पड़ा। सैन्यसंगठन राज्यव्यवस्था का आवश्यक अंग है। वास्तव में सेना की सहायता के बिना व्यवस्था रह ही नहीं सकती। सत्यार्थप्रकाश में महर्षि दयानन्द ने सैन्यसंगठन तथा युद्धसंचालन की विस्तारपूर्वक चर्चा करते हुए लिखा है—"जब कभी प्रजा का पालन करने वाले राजा को अपने से छोटा, तुल्य अथवा उत्तम संग्राम में आह्वान करे तो क्षत्रियों के धर्म का स्मरण करके संग्राम में जाने से कभी निवृत्त न हो अर्थात् बड़ी चतुराई के साथ उनसे युद्ध करे जिससे अपना ही विजय हो।"[1] स्वयं वेद ने अनेक स्थलों पर राजा को सैन्यसञ्चय का आदेश दिया है। दुष्टों को चुन-चुनकर मारने का उपदेश देते हुए वेद ने कहा, "अनया जहि सेनया"[2] अर्थात् इस सेना से शत्रु को मार। राजा की शक्ति उसकी सेना है। वही उसके राज्य का आधार है। वास्तव में—

कोषदण्डबले प्रभुशक्तिः ॥३३॥

(प्रभु शक्ति का आधार)

सेना और उसके लिए आवश्यक कोष का ही दूसरा नाम प्रभुशक्ति (Sovereignty) है। जिसमें अपने प्रतिपक्षियों का दमन करने की

१. सत्यार्थ० पृ० ६५। २. अथर्व० १०। १०। २१।

शक्ति है और उस दमन में सहायक सेना को रखने का सामर्थ्य है वही सबसे बड़ा है। इसीलिए ऋषि लिखते हैं—"जैसे बगुला ध्यानावस्थित होकर मच्छ के पकड़ने को तकता है वैसे अर्थसंग्रह का विचार किया करे। द्रव्यादि पदार्थ और बल की वृद्धि कर शत्रु को जीतने के लिए सिंह के समान पराक्रम करे।"[1] कोष और सेना की वृद्धि करना राजा का मुख्य कर्तव्य है।

नगरव्यवस्थार्थं मनुष्यपालयित्री ॥३४॥

(म्युनिसिपैलिटि)

"बड़े-बड़े नगरों का प्रबन्ध करने के लिए विचार करने वाली सभा का सुन्दर उच्च और विशाल एक-एक घर (टाउन हॉल) बनावे। उसमें बड़े विद्यावृद्ध... बैठकर विचार किया करे। जिन नियमों से राजा व प्रजा की उन्नति हो वैसे-वैसे नियम और विद्या प्रकाशित किया करे।"[2] यहां विद्यावृद्ध से अभिप्राय नगर पिता या Elders से है।

सदविरोधः स्वायत्तीकरणमाततायिनश्च ॥३५॥

(विदेश नीति)

ऋषि के सभी सिद्धान्त सार्वभौमिक हैं। दूसरे राजाओं के साथ सम्बन्ध की चर्चा करते हुए ऋषि लिखते हैं—"जो धार्मिक राजा हो उससे विरोध कभी न करे किन्तु सदा मेल रखे और जो दुष्ट प्रबल हो उसके जीतने के लिए प्रयत्न करे।[3] ....किसी से मेल या विरोध करने का अधिकार दूत को देवे।"

ऋषि का यह आदेश राजाओं के लिए ही नहीं बल्कि मनुष्य मात्र के लिए है। उन्होंने लिखा है—"मनुष्य उसी को कहना जो मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही

१. सत्यार्थ० पृ० ६७। २. सत्यार्थ० पृ० ६८। ३. सत्यार्थ० पृ० १०६।

नहीं किन्तु अपने सर्व सामर्थ्य से धर्मात्माओं की चाहे वे महा अनाथ निर्बल और गुण रहित क्यों न हों उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती सनाथ, महा बलवान् और गुणवान् भी हो तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे। अर्थात् जहां तक हो सके वहां तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की सदा उन्नति किया करे।"[1] हर किसी के साथ चाहे वह अपना हो या पराया पारस्परिक सम्बन्ध की यही कसौटी है।

सत्याग्रहः शक्तयाग्रहश्च ॥३६॥

(सत्याग्रह-शक्त्याग्रह)

ऋषि दयानन्द के समान सत्याग्रही कोई विरला ही रहा होगा। जोधपुर जाते समय उन्होंने कितनी निर्भीकता से कहा था कि—"यदि लोग मेरी अंगुलियों को बत्तियां बनाकर जला दें तो भी कोई चिन्ता नहीं। मैं वहां जाकर सत्योपदेश अवश्य करूंगा।" अजमेर में पादरी शूलब्रेड को ललकारते हुए उन्होंने कहा—"सत्य के लिए जेल जाना कोई लज्जा की बात नहीं है। धर्म पथ पर आरूढ़ होकर मैं ऐसी बालों से निर्भय हो गया हूं। पादरीजी! मैं लोगों के डराने से सत्य को नहीं छोड़ सकता। ईसा को भी तो लोगों ने फांसी पर लटका दिया था।" मेवाड़ाधिपति को सम्बोधन करते हुए उन्होंने कहा था कि "मेरे धर्म की ध्रुवधारणा को धराधाम और आकाश की कोई भी वस्तु नहीं डगमगा सकती।" सत्याग्रह का इतना उपरूप और कहां देखने को मिलेगा ? ऋषि ने आर्यसमाज को भी सत्याग्रही संस्था बनाने के लिए उसके दस नियमों में से चार में सत्याग्रह पर बल दिया। चौथा नियम तो कितना स्पष्ट है कि "सत्य के ग्रहण करने और असत्य के त्यागने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।" यह सत्याग्रह नहीं तो और क्या है। किन्तु ऋषि दयानन्द का सत्याग्रह अधूरा अथवा लंगड़ा नहीं है। उसे शक्त्याग्रह का बल प्राप्त

१. सत्यार्थ० पृ० ३६०।

है। एक ओर जहां उन्होंने दारुण दुःख सहन करने तथा प्राण क देने का आदेश दिया है वहां दूसरी ओर उन्होंने अन्यायकारी के अप्रियाचरण, अवनति और नाश का भी उपदेश दिया है। वास्तव में सत्य की रक्षा के लिए शक्ति का आश्रय आवश्यक है। वेद के "यत्र ब्रह्मं च क्षत्रं च सम्यक्तौचरतः सह। तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः महाग्निना" इस मन्त्र में 'ब्रह्म' सत्य का और 'क्षत्रम्' शक्ति का पर्यायवाची है। सफलता के लिए दोनों का ही आग्रह आवश्यक है। ऋषि के मत में दोनों का समन्वय है।

प्रीतिपूर्वकं यथायोग्यम् ॥३७॥

(यथायोग्य व्यवहार)

महर्षि का सिद्धान्त है—"सबसे प्रीति पूर्वक, धर्मानुसार, यथायोग्य वर्तना चाहिए।"[१] देश, काल और पात्र का विचार करते हुए साम, दाम, दण्ड और भेद सभी का आश्रय लेना शास्त्र सम्मत है। दुष्टों के दमन के लिए सब प्रकार के उपाय काम में लाना सदाचार की सीमा में है।

आत्मरक्षणो हिंसा अहिंसैव ॥३८॥

(हिंसा-अहिंसा)

अपने-अपने स्थान में हिंसा और अहिंसा दोनों की उपयोगिता है। कोई भी शास्त्र अथवा कानून आत्मरक्षार्थ की गई हिंसा को अपराध नहीं मानता। मैं तो उसे वीरता मानता हूं। जितना पाप निर्दोष की हत्या करने में है उतना ही दुष्टों को छोड़ने में और कभी-कभी उससे भी अधिक। शास्त्रों का आदेश है—"आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्" अर्थात् आततायी को आता देखकर बिना सोचे-समझे ही उसे मार डाले। ऐसी दशा में हिंसा ही वास्तविक अहिंसा है। ऋषि ने "अहिंसाप्रतिष्ठायां

१. आर्यसमाज का ७ वां नियम।

तत्सन्निधौ वैरत्यागः" को ही अहिंसा की परिभाषा के रूप में अपनाया है। वैरभाव को त्यागकर हित की भावना से जो हिंसा की जाती है वह अहिंसा ही है, ऐसा ऋषि का मन्तव्य है। उन्होंने अहिंसा का अर्थ ही 'वैरत्याग' किया है।[1]

संस्कृतिविस्तारस्त्वहिंसयैव ॥३९॥

संसार में आर्य संस्कृति तथा वैदिक धर्म का विस्तार सदा बुद्धिबल के आधार पर अहिंसात्मक साधनों द्वारा ही हुआ है। प्रचारक अपना रक्त बहाकर ही पवित्र वैदिक धर्म का प्रसार करते रहे हैं। उन्होंने सदैव अपनी छाती खून से रंगी है, हाथ नहीं।

बाह्याभ्यन्तराक्रमणेभ्यस्स्वराष्ट्ररक्षणं शस्त्रादिभिः ॥४०॥

राष्ट्र पर विदेशों से होने वाले आक्रमणों तथा अन्दर पैदा होने वाले विप्लवों और अराजकता से उसकी रक्षा करने के लिए शस्त्रों का प्रयोग करना आवश्यक है।

दस्युराक्षसपिशाचाततताय्यादीनां नियन्त्रणं दण्डेन ॥४१॥

दस्यु, राक्षस, पिशाच, आततायी आदि को नियन्त्रण करने के लिए दण्ड का प्रयोग पूर्णतया वैध है। ऋषि दयानन्द के मत में कठोर से कठोर दण्ड को देना उचित है। जितना कठोर दण्ड होगा, अपराधों की संख्या उतनी ही कम होगी। ऋषि के दण्डविधान में वाग्दण्ड अर्थात् अपराधी की निन्दा से लेकर प्राणदण्ड तक सम्मिलित है। इसमें क्षमा या विलम्ब को कोई स्थान नहीं।

नाततायिवधे दोषः ॥४२॥

(निष्काम युद्ध)

'सदविरोधः' की व्याख्या में हमने ऋषि के जिन शब्दों को उदधृत

---

1. सत्यार्थ० पृ० २८।

किया है वे बड़े भयंकर प्रतीत होते हैं। किन्तु उन्हें सभी शास्त्रों का समर्थन प्राप्त है। ऋषि ने गीता के 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' से मिलती-जुलती बात लिखी है किन्तु उससे कहीं अधिक स्पष्ट और जोरदार शब्दों में। गीता का तो अधिकांश भाग 'नाततायिवधे दोषः' को लक्ष्य करके ही लिखा गया है। स्वयं वेद की उक्ति है 'जहि एषां वरं वरम्'[१] (दुष्टों के नेताओं को चुन चुनकर मारो) "मैषां मोच्यघहारश्च" (इनमें से बुरी खबर ले जानेवाले एक को भी मत छोड़ो) आदि आदि। ऋषि ने युद्ध प्रकरण में ऐसी बहुत-सी बातों को उचित ठहराया है।

हिंसाया : हननात् ॥४३॥

आततायी की हिंसा, हिंसा की हिंसा है। मारना पाप है किन्तु मारने वाले को मारना पुण्य है। हिंसा की हिंसा सबसे बड़ी अहिंसा है।

आदानं हि विसर्गाय ॥४४॥

इस प्रकार दुष्ट राजा का दमन करके उसे जीते। किन्तु उसे जीतकर अपने राज्य में न मिलाये। बल्कि "जीतकर उसके साथ प्रतिज्ञादि लिखा लेवे और जो उचित समय समझे तो उसी के वंशस्थ किसी धार्मिक पुरुष को राजा कर दे और उससे लिखा लेवे कि तुमको हमारी आज्ञा के अनुकूल अर्थात् जैसी धर्मयुक्त राजनीति है उसके अनुसार चल के न्याय से प्रजा का पालन करना होगा ऐसे उपदेश करे और ऐसे पुरुष उनके पास रखे कि जिससे पुनः उपद्रव न हो।"[२] कितना ऊंचा आदर्श है। कितनी उदात्त भावना है। ऐसे युद्ध को लोक युद्ध कहा जा सकता है साम्राज्यवादी नहीं। ऐसा युद्ध स्वार्थों से प्रेरित होकर नहीं बल्कि निष्काम भाव से किया जाता है। और उसका उद्देश्य शोषण नहीं बल्कि निरंकुश शासक के अत्याचारों से पीड़ित प्रजा की सहायता करना होता है।

---

१. अथर्व० ११। १०। २१ । २. सत्यार्थ० पृ० १०३।

चक्रवर्तिराज्यश्रीप्राप्त्यर्थं पुरुषार्थः ॥४५॥

(साम्राज्यवाद)

यजुर्वेद के एक मन्त्र की व्याख्या करते हुए ऋषि आदेश देते हैं—"मनुष्य को सदा दो प्रयोजन अपने सामने रखकर उनकी पूर्ति के लिए अपना सब व्यवहार करना चाहिए। पहला यह कि अत्यन्त पुरुषार्थ करके शरीर को स्वस्थ रखकर वह चक्रवर्ती राज्यरूपी श्री का सम्पादन करे और दूसरा यह कि वह सब विद्याओं को पकड़कर सब जगह उनका प्रचार करे।" मनुष्य जीवन के कार्यक्रम में राज्य को कितना ऊंचा स्थान दिया है। पुनः "आर्याभिविनय" में परमात्मा से प्रार्थना की गयी है कि "हे महाराजाधिराज परब्रह्म! अखण्ड चक्रवर्ती राज्य के लिए शौर्य, धैर्य, नीति, विनय, पराक्रम और बलादि उत्तम गुणयुक्त कृपा से हम लोगों को यथावत् पुष्ट कर।"[१] इतना ही नहीं सत्यार्थ प्रकाश में महर्षि लिखते हैं—"सृष्टि से लेकर पांच सहस्र वर्षों से पूर्व समय पर्यन्त आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्ती अर्थात् भूगोल में सर्वोपरि राज्य था। अन्य देश में माण्डलिक अर्थात् छोटे छोटे राजा रहते थे।"[२] और भी अनेक स्थलों पर महर्षि ने आर्यों के हृदय में पुनः उसी राज्य को प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा भर देना चाहते थे। महर्षि दयानन्द स्पष्टतः साम्राज्यवादी थे।

विश्वोपकारार्थं साम्राज्यं नोत्पीडनार्थम् ॥४६॥

साम्राज्यवाद के नाम से ही आज दुनिया को घृणा है। वास्तव में उसका वर्तमान रूप इतना भयंकर है कि उससे घृणा हो जाना स्वाभाविक ही है। उसका काम निर्बल राष्ट्रों का शोषण और उत्पीड़न है। किन्तु ऋषि दयानन्द का साम्राज्यवाद मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए है। ऐसे साम्राज्य का सम्राट् अपने को 'ईश्वर का दृश्य रूप'

१. आर्याभि० पृ० २१४। २. सत्यार्थ० पृ० १७६।

'प्रतिबिम्ब' अथवा 'प्रतिनिधि' नहीं बल्कि सेवक मानता हुआ कहता है—"वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम" हम प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्रजा और परमात्मा हमारा राजा, हम उसके किंकर भृत्यवत् हैं। वह कृपा करके अपनी सृष्टि में हमको राज्याधिकारी करे और हमारे हाथ से अपने सत्य न्याय की प्रवृत्ति करावे ?[१] गुरु गोविन्दसिंह के 'हम हैं परम पुरुष के दासाँ' इन शब्दों में यही पवित्र भावना है। अपने को परमात्मा का नौकर मानने वाला राजा क्या कभी अन्याय, अत्याचार, शोषण अथवा दमन करने का साहस कर सकता है ? वह तो अपने स्वामी को प्रसन्न रखने के लिए सदा उसकी सन्तान का पालन-पोषण ही करेगा। वास्तविक अर्थों को भूल जाने पर भी रूढ़ि के रूप में यह भावना हिन्दू राज्यों में 'राज्य के देवता' के नाम से आज भी विद्यमान है। जो साम्राज्य अन्याय और अत्याचार पर आश्रित होगा वह तो न चाहने पर भी किसी न किसी दिन Liquidation में आयेगा ही। ऋषि दयानन्द का इस विषय में स्पष्ट मत है कि "जब तक मनुष्य धार्मिक रहते हैं तभी तक राज्य बढ़ता रहता है और जब दुष्टाचारी होते हैं तब नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।"[२] परमात्मा की सृष्टि में अभिमानी अन्यायकारी अविद्वानों का राज्य बहुत दिन नहीं रहता।"[३] वैदिक साम्राज्य 'सुवृधः' अर्थात् अच्छे मार्ग से बढ़ाया जाता है, छल कपट और अन्याय से नहीं। संसार का उपकार करना आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य है। यह तभी हो सकता है जब समस्त संसार की राज्य सत्ता आर्यसमाज के हाथ में हो अर्थात् आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य हो।

वसुधैव कुटुम्बकमित्यर्थं राष्ट्रसंघः ॥४७॥

(एक ही दुनिया)

ऋषि दयानन्द का राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रियता का अंश है। वह

१. सत्यार्थ० पृ० १११। २. सत्यार्थ० पृ० ८६। ३. सत्यार्थ० पृ० १७६।

विश्वबन्धुत्व की प्रथम सीढ़ी है। जो राष्ट्र स्वयं स्वाधीन नहीं वह सारे संसार की स्वाधीनता के लिए क्या कर सकता है ? अन्तर्राष्ट्रीय गठन से पहले समस्त राष्ट्रों का स्वतन्त्र होना आवश्यक है, इसीलिए ऋषि ने अधिक बल भारत की राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता पर दिया है। स्वतन्त्र राष्ट्रों में पारस्परिक राजनीतिक, आर्थिक, राजस्व सम्बन्धी, सांस्कृतिक और सामाजिक सहकारिता तथा सम्बन्ध स्थापित करने के लिए आचार्य दयानन्द एक ऐसी सभा की व्यवस्था करना चाहते थे जिसमें समस्त राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व हो। ऐसे संघ का सविस्तार वर्णन करते हुए अन्त में वह लिखते हैं—"इस प्रकार वे सब राजसभा महाराज सभा अर्थात् सार्वभौम चक्रवर्ती महाराज सभा (अन्तर्राष्ट्रीय संघ) में सब भूगोल का वर्तमान जनाया करे।"[1] यूरोपियन राष्ट्रों ने इसी आदर्श को सामने रखकर 'राष्ट्र संघ' की स्थापना की थी। किन्तु इसका निर्माण शक्ति और अधिकारों के बल पर हुआ था। इसलिए पारस्परिक घात-प्रतिघात के कारण यह अधिक दिन तक न टिक सका। ऋषि दयानन्द के राष्ट्र-संघ का आधार 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना, आर्यत्व की प्रेरणा, एक ईश्वर के अमृत पुत्र होने का सिद्धान्त और परोपकार का आदर्श हैं। इसी आधार पर निर्मित संघ ही वैण्डल बिल्की के 'एक दुनियां' के स्वप्न को पूरा कर सकता है।

युद्धावसाने संयतानां मोक्षः ॥४८॥

(अन्तर्राष्ट्रिय विधान)

संसार के समस्त राष्ट्रों के सम्बन्धों के नियमन तथा नियन्त्रण के लिए राष्ट्र संघ द्वारा स्वीकृत विधान की आवश्यकता है। ऋषि दयानन्द इस बात को भली प्रकार जानते थे। विविध विषय-विभूषित सत्यार्थप्रकाश में हरेक बात का पूरा-पूरा वर्णन नहीं किया जा सकता।

१. सत्यार्थ० पृ० ६८।

तो भी महर्षि ने पथ प्रदर्शन के लिए यत्र तत्र सभी बातों की ओर संकेत अवश्य कर दिया है। अभी पिछले दिनों आजाद हिन्द फौज के सैनिकों का मुकदमा अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व का विषय बन गया था और उसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून की आवश्यकता पड़ी थी। सत्यार्थ प्रकाश के पन्ने उलटने पर सहसा यह वाक्य दीख पड़ा—"जब राज्य अच्छे प्रकार जम जाये और पुनः युद्ध की आशंका न हो तो उनको सत्कारपूर्वक छोड़कर अपने अपने घर या देश को भेज देवें।"[१] कितना सुन्दर तथा स्पष्ट निर्णय है। घरेलू उपद्रवों अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों में इसी नीति का अवलम्बन उचित है।

१. सत्यार्थ० पृ० ६६।

स्वामी दयानन्द और देशभक्ति

आज का संसार महर्षि दयानन्द को एक धर्म प्रचारक और समाज सुधारक के रूप में ही जानता और मानता है। बहुत कम लोग ऐसे हैं जो उनकी राष्ट्रीयता अथवा देशभक्ति से परिचित हैं। आज जबकि अंग्रेज भारत को छोड़कर जाने वाले हैं और भारतीय जनता स्वतन्त्रता का रसास्वादन करने वाली है, कितने लोग ऐसे हैं जो यह जानते हैं कि एक बार एक अंग्रेज कलेक्टर ने स्वामीजी का भाषण सुनने के बाद कहा था कि "यदि आपके भाषण पर लोग चलने लग जायें तो इसका परिणाम यह होगा कि हमें अपना बंधना बोरिया बांधना पड़ेगा।"

१९११ की जनसंख्या के अध्यक्ष श्री ब्लण्ट ने आर्यसमाज की आलोचना करते हुए लिखा था—

The Arya Samajic Doctrine has a Patriotic side. The Arya Doctrine and Arya Education a like sing the glories of Ancient India and by so doing arouse a feeling of national pride in its disciples who are made to feel that their country's history is not a tale of humiliation. Patriotism and politics are not synonymous but the Arousing of an interest in national affairs as a national result of arousing national pride."

(Census Report of 1911, Vol. XV, Part I Chapter IV, Page 135)

"आर्यसमाज के सिद्धान्तों में स्वदेश प्रेम की प्रेरणा है। आर्य सिद्धान्त और आर्य शिक्षा दोनों समान रूप से भारत के प्राचीन गौरव

के गीत गाते हैं। और ऐसा करके अपने अनुयायियों में राष्ट्रीय गौरव की भावना को जागृत करते हैं। इस शिक्षा के कारण ही वे समझते हैं कि हमारे देश का इतिहास पराभव की कहानी नहीं है। देशभक्ति और राजनीति पर्यायवाची नहीं हैं किन्तु राष्ट्रीय कार्यों में प्रवृत्ति का होना राष्ट्रीय भावना का स्वाभाविक परिणाम है।"

मिस्टर ब्लण्ट के कथन की यथार्थता को जानने के लिए महर्षि के इन शब्दों पर ध्यान देना काफी है—"यह आर्यावर्त देश ऐसा है जिसके सदृश भूगोल में दूसरा देश नहीं है। इसीलिए इस भूमि का नाम सुवर्ण भूमि है क्योंकि यही सुवर्ण आदि रत्नों को उत्पन्न करती है। ... जितने भूगोल में देश हैं वे सब इसी देश की प्रशंसा करते और आशा रखते हैं कि पारसमणि पत्थर सुना जाता है, वह बात तो झूठी है, परन्तु आर्यावर्त देश ही सच्चा पारसमणि है कि जिसको लोहे रूपी विदेशी छूते ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं। सृष्टि से लेकर पांच सहस्र वर्षों से पूर्व पर्यन्त आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्ती अर्थात् भूगोल में सर्वोपरि एकमात्र राज्य था। अन्य देश में माण्डलिक अर्थात् छोटे छोटे राजा रहते थे।"[१] वास्तव में ऋषि दयानन्द अपने देशवासियों में यह भावना भरना चाहते थे कि तुम्हारा अतीत अत्यन्त गौरवपूर्ण था। मिस्टर ब्लण्ट के कथनानुसार इस भावना के जागृत होने का अनिवार्य परिणाम यही है कि लोगों में अपने खोये हुए वैभव को फिर से पाने की लालसा पैदा हो। हुआ भी वही। लोगों में अपनी गुलामी के प्रति घृणा और स्वतन्त्र होने की इच्छा को प्रोत्साहन मिला। किसी भी मामले में विदेशियों के सामने सिर झुकाना ऋषि को सह्य नहीं था। वह लिखते हैं कि "जब अपने देश में सब सत्य विद्या, सत्य धर्म, ठीक ठीक सुधार और परमयोग की सब बातें थीं और

---

१. सत्यार्थ० पृ० १७२।

अब भी हैं तब विचारिये कि थियोसोफिस्टों को एतद्देशवासियों के मत में मिलना चाहिए या आर्यावर्तियों को थियोसोफिस्ट होना चाहिए।" ऋषि के स्वदेश प्रेम के सामने फ्रांस, अमेरिका और स्विट्जरलैंड से प्रेरणा पाने वाले, वर्तमान भारतीय देशभक्तों की राष्ट्रीयता कितनी फीकी है। वास्तव में स्वदेशी भाषा, भाव, साहित्य के प्रेम के बिना स्वदेश प्रेम बिल्कुल थोथा और निर्जीव है। मिस्टर ब्लण्ट ने आगे लिखा है—

. Dayanand was not merely a religious reformer, he was also a great patroit. It would be fair to say that with him religious reform was a mere means to national reform.

"दयानन्द केवल धार्मिक सुधारक ही नहीं थे। वह बहुत बड़े देशभक्त भी थे। यह कहना ठीक ही होगा कि उन्होंने धार्मिक सुधार को राष्ट्रीय सुधार के साधनरूप में ही अपनाया था।"

मिस्टर ब्लण्ट ने बहुत ही पते की बात कही है। इसमें सन्देह नहीं कि ऋषि दयानन्द ने पाखण्डों और परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का खण्डन इसीलिए किया कि इनके रहते हुए 'परस्पर एकमत, एकता, मेल मिलाप या सद्भाव न रहकर ईर्ष्या, द्वेष, विरोध, मतभेद और लड़ाई झगड़ा' ही होगा। ऋषि ने बड़े दुःख के साथ लिखा कि "यदि ऐसे पाखण्ड न चलते तो आर्यावर्त की दुर्दशा क्यों होती ?" उन्होंने सबसे अधिक खण्डन मूर्ति पूजा का किया है। इस प्रकरण में उन्होंने १६ युक्तियां दी हैं जिनमें से अधिकांश का आधार मूर्ति पूजा के कारण देश को होने वाली हानियां हैं। उन्होंने लिखा है—

"नाना प्रकार की विरुद्ध स्वरूप-नाम-चरित्र-युक्त मूर्तियों के पुजारियों का ऐक्यमत नष्ट होने के विरुद्ध मत में चलकर आपस में फूट बढ़ा के देश का नाश करते हैं। ...मूर्ति के भरोसे शत्रु का पराजय

होकर राज्य, स्वातन्त्र्य और उनका सुख उनके शत्रुओं के स्वाधीन हो जाता है।"[१] अनेक बार मूर्ति पूजा के कारण पराजित होने का उल्लेख करते हुए ऋषि लिखते हैं कि "क्यों पत्थर की पूजा कर सत्यानाश को प्राप्त हुए ? देखो, जितनी मूर्तियां हैं उनके स्थान में शूरवीरों की पूजा करते तो भी कितनी रक्षा होती ? ....जो एक शूरवीर पुरुष की मूर्ति के सदृश पूजा करते तो वह अपने सेवकों को यथाशक्ति बचाता और उन शत्रुओं को मारता।" इसके आगे उन्होंने मूर्ति पूजा के फलस्वरूप होने वाले अपव्यय, व्यभिचार, रोग, लड़ाई बखेड़े आदि के कारण होने वाली देश की हानि का उल्लेख किया है। हमारी जिन कमजोरियों से विदेशियों ने लाभ उठाया है उन्हें दूर करना ही ऋषि दयानन्द के खण्डनात्मक कार्य का ध्येय था।

ब्राह्मसमाज के खण्डन के प्रकरण को देखने पर यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाज का इतना अधिक खण्डन ऋषि ने केवल उनके विदेशीपन के कारण ही किया प्रतीत होता है। वह लिखते हैं—

"इन लोगों में स्वदेशभक्ति बहुत न्यून है। ईसाइयों के आचरण बहुत से लिए हैं... अपने देश की प्रशंसा व पूर्वजों की बढ़ाई करना तो दूर रहा, उसके स्थान में भरपेट निन्दा करते हैं। ब्रह्मादि ऋषियों का नाम भी नहीं लेते प्रत्युत ऐसा कहते हैं कि बिना अंग्रेजों के सृष्टि में आज पर्यन्त कोई विद्वान् ही नहीं हुआ। आर्यावर्तीय लोग सदा से मूर्ख चले आये हैं। उनकी उन्नति कभी नहीं हुई।" उन लोगों की भर्त्सना करते हुए वह लिखते हैं कि "भला जब आर्यावर्त में उत्पन्न हुए हैं और इसी का अन्न जल खाया पिया, अब भी खाते पीते हैं तब अपने माता

१. सत्यार्थ० पृ० १६६।

पिता पितामह आदि के मार्ग को छोड़कर दूसरे विदेशियों मतों पर अधिक झुक जाना, ब्राह्मसमाजी और प्रार्थना-समाजियों का एतद्देशस्थ संस्कृत विद्या से रहित अपने को विद्वान् प्रकाशित करना, इंगलिश भाषा पढ़के पण्डिताभिमानी होकर झटिति एक मत चलाने में प्रवृत्त होना मनुष्यों का स्थिर और बुद्धिकारक काम क्योंकर हो सकता है ?"[1] कितने स्वदेशाभिमानी थे ऋषि दयानन्द।

यहां पर महर्षि ने ब्राह्मसमाजियों के विदेशी मत ईसाइयों की ओर झुकाव होने के कारण ही उन्हें इतना फटकारा है। शायद इस और ऐसी ही अन्य समीक्षाओं के कारण १९०१ में जनसंख्या के अध्यक्ष मिस्टर बर्न ने लिखा था —

Dayanand feared Islam and Christianity because he considered that the adoption and adaptation of any, foreign creed would endanger the national feelings he wished to foster."

"ऋषि दयानन्द को आशंका थी कि इस्लाम और ईसाइयत जैसे विदेशी मतों के अपनाने से देशवासियों की राष्ट्रीय भावनाओं को जिनको वह जागृत करना चाहते थे ठेस पहुंचेगी।"

इसमें तनिक सन्देह नहीं कि हमारी दासता की कड़ियों को सुदृढ़ बनाने में ईसाइयत ने अंग्रेजों के कन्धे से कन्धा भिड़ाकर काम किया है। जब तक किसी देश के लोगों में स्वाभिमान की भावना रहती है तब तक विदेशी शासन चिरस्थायी नहीं हो पाता। इसी भावना को नष्ट करने के लिए ईसाइयत ने प्रयत्न किया और हिन्दुस्तानियों को जंगली और असभ्य बताकर उनमें हीनता की भावना को जागृत करना चाहा। उसी समय महर्षि दयानन्द ने अपने लेखों और वक्तव्यों से उनमें सर्वश्रेष्ठ

---

१. सत्यार्थ० पृ० २४१।

होने की भावना पैदा की और इस प्रकार ईसाइयत के आक्रमण को विफल कर दिया।

इस्लाम के इतिहास से तो सभी लोग भली प्रकार परिचित हैं। मुसलमान आक्रान्ता के रूप में इस देश में आये और लगभग ७०० वर्ष तक उन्होंने यहां शासन भी किया। यह ठीक है कि भारत के ६ करोड़ मुसलमानों में अधिकांश इसी देश के रहने वाले हैं। किन्तु उन्होंने कभी भी किसी मुसलमान शासक का (जो प्रायः सभी विदेशी रहे) उसके विदेशी होने के कारण विरोध नहीं किया। इतिहास इस बात का पूर्णतया साक्षी है। मुसलमानों की यह मनोवृत्ति आज तक ज्यों की त्यों बनी हुई है। सच तो यह है कि कट्टर से कट्टर देशभक्त भी कलमा पढ़ते ही देशद्रोही बन जाता है। बड़े से बड़े राष्ट्रवादी ? मुसलमान के हृदय में भी जो आदर भाव विदेशी आक्रान्ता महमूद गजनवी और मुहम्मद गौरी के लिए है उसका शतांश भी देश के लिए मर मिटने वाले पृथ्वीराज चौहान और महाराणा प्रताप अथवा राम या कृष्ण के लिए नहीं है। भारत के मुसलमान यह जानते हुए भी कि उन्होंने स्वयं इस देश पर कभी राज्य नहीं किया विदेशी मुस्लिम शासकों पर गर्व करते हैं। जबकि कांग्रेस इस देश के लोगों का शासन स्थापित करने के लिए संघर्ष करती रही भारत के मुसलमान अपने ? खोये हुए वैभव मुगल राज्य को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहे। स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए जो कुछ किया हिन्दुओं ने किया। महर्षि दयानन्द इस तथ्य को पूरी तरह जानते थे। मुसलमानों को देशद्रोही से देशभक्त बनाने के लिए उन्होंने उनको हिन्दू बनाना आवश्यक समझा। यही उनके शुद्धि आन्दोलन का आधार था। ऋषि दयानन्द का शुद्धि आन्दोलन विशुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन था। उसमें मतान्धता का लेश भी न था।

स्वामी दयानन्द और रियासतें

भारत की दुर्दशा पर आंसू बहाते हुए ऋषि लिखते हैं—"अन्य देशों में राज्य करने की कथा ही क्या कहना किन्तु आर्यावर्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है, सो भी विदेशियों से पादाक्रान्त हो रहा है।"[1] कहना न होगा कि यहां 'जो कुछ' से अभिप्राय भारतीय रियासतों से है। यद्यपि रियासतों पर ब्रिटिश सरकार का अंकुश था फिर भी कुछ अंशों में वे स्वतन्त्र थी हीं। इस विचार से ऋषि ने निश्चय किया कि पहले रियासतों में सुधार करना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि देश की जनता का एक बहुत बड़ा भाग रियासतों में रहता है और ये रियासतें देश के सभी भागों में पाई जाती हैं। इसलिए रियासतों का सुधार हो जाने पर देश का सुधार करने में बहुत बड़ी सहायता मिल सकती थी। उदयपुर में रहते हुए श्री मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या से स्वामीजी ने एक बार कहा था—"मैं चाहता हूं कि देश के राजे महाराजे अपने शासन में सुधार और संशोधन करें। अपने राज्य में धर्म, भाषा और भावों में एकता पैदा करें। फिर भारत भर में आप सुधार हो जायेगा।" रियासतों के सुधार में भारत भर का सुधार निहित है—ऐसा सोचकर ही ऋषि ने अपना मुख्य कार्यक्षेत्र राजस्थान को चुना। राजस्थान के केन्द्र अजमेर को उन्होंने अपना केन्द्र बनाया।

१. सत्यार्थ० पृ० १४१।

सत्यार्थप्रकाश का अधिकांश भाग उन्होंने उदयपुर में बैठकर लिखा। उदयपुर में ही उन्होंने अपनी उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा की स्थापना की और उदयपुर-नरेश को ही उसका सभापति बनाया। चित्तौड़ में उन्होंने गुरुकुल खोलने की इच्छा प्रकट की। आखिर राजस्थान में ही 'ईश्वर, तेरी इच्छा पूर्ण हो' कहते हुए उन्होंने प्राणोत्सर्जन किया।

राजाओं के नैतिक पतन और रियासतों की दुर्दशा से स्वामीजी अत्यन्त दुःखी थे। वे प्रायः कहा करते थे कि "हिन्दू राज्यों की दशा अत्यन्त शोचनीय है। वे कभी के नष्ट हो गये होते, परन्तु जितने या जो कुछ भी बचे हुए हैं, वे उनकी रानियों के पातिव्रत धर्म से बचे हुए हैं। यदि राजाओं के कर्म पर निर्भर होता, तो कभी का बेड़ा डूब गया होता।" जोधपुर नरेश को उनके नैतिक पतन के कारण फटकारते हुए उन्होंने कितनी निर्भीकता के साथ कहा था कि—"राजन्, राजा लोग सिंह समान समझे जाते हैं। स्थान-स्थान पर भटकने वाली वेश्या कुतिया के सदृश है। वीर शार्दूल का कृपण कुतिया पर प्रेम करना और उस पर आसक्त हो जाना सर्वथा अनुचित है। आर्य जाति की कुल मर्यादा के यह सर्वथा विपरीत है।" सभी जानते हैं कि स्वामीजी के ये शब्द ही उनकी मृत्यु का कारण बने। बम्बई के एक भाषण में इसी विषय पर चर्चा करते हुए उन्होंने कहा था कि "इस देश के राजाओं की अवनति और दुःख का कारण उनके मूर्ख और दुष्ट मन्त्री हैं। यदि हमारे राजाओं की ऐसी दशा और बुद्धि न होती तो आज हमारी और हमारे देश की भी यह दीन-हीन दशा न होती। वास्तव में इस देश की अवनति और पतन का कारण ऐसे राजे रईस ही हैं, जो दिन रात प्रजा के धन को नाच तमाशों और व्यर्थ के कामों में उड़ाते हैं। वे अपनी शारीरिक शक्ति और मानसिक स्मृति को खोकर किसी काम के नहीं रहते। इनके प्रमाद और अनभिज्ञता से राज्य के प्रबन्ध में बड़ी अव्यवस्था हो जाती है।

फिर नये नये बखेड़े खड़े होते रहते हैं।" ऋषि के इन थोड़े-से शब्दों में रियासती प्रजा के कष्टों, जनता के धन के अपव्यय, राजाओं की प्रजा के प्रति उपेक्षा, उनके नैतिक पतन और इस सबके लिए मन्त्रियों के उत्तरदायित्व का कितना विशद चित्रण है।

यह सच है कि स्वामीजी ने रियासतों के सुधार के लिए इस रूप में कोई आन्दोलन नहीं किया जिस रूप में आज प्रजा मण्डलों द्वारा किया जा रहा है। उन्होंने पत्तों को सींचने के स्थान में जड़ को सींचना उचित समझा। इस निमित्त उन्होंने राजाओं के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया और इसी उद्देश्य से उन्होंने मेवाड़, जयपुर, शाहपुरा, भरतपुर, रीवां, ग्वालियर, धौलपुर, इन्दौर, जोधपुर आदि सभी राज्यों का दौरा करके वहां के नरेशों के कानों तक अपना सन्देश पहुंचाने का प्रयत्न किया। दिल्ली दरबार के अवसर पर इन्दौर नरेश तथा कुछ अन्य नरेशों ने मिलकर यह यत्न किया था कि समस्त देशी नरेशों का एक सम्मेलन करके स्वामीजी का उपदेश कराया जाये। अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों के आधार पर ही स्वामीजी ने महाराजा प्रतापसिंह जी को एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पत्र लिखा। पत्र में उन्होंने लिखा था :—

"श्री मान्यवर शूर महाराज श्री प्रतापसिंह जी !

आनन्दित रहो। यह पत्र बाबा महाशय के दृष्टिगोचर भी करा दीजिए। मुझे इस बात का बहुत शोक है कि श्रीमान् जोधपुराधीश आलस्य आदि में वर्तमान हैं और आप तथा बाबा महाशय रोगी शरीर वाले हैं। इस राज्य में सोलह लाख से अधिक मनुष्य बसते हैं। उनके रक्षण तथा कलयाण का भार आप लोग उठा रहे हैं। उनका सुधार या बिगाड़ भी आप तीन महाशयों पर निर्भर है। तथापि आप लोग अपने शरीर की रोग से रक्षा करने तथा आयु बढ़ाने के काम पर बहुत अल्प ध्यान देते हैं। यह बात कितनी शोचनीय हैं।"

"मैं चाहता हूं कि आप अपनी दिनचर्या मुझ से सुधार लें, जिससे मारवाड़ का तो क्या अपने आर्यावर्त देश भर का कल्याण करने में आप लोग प्रसिद्ध हो जाये। आप जैसे योग्य पुरुष जगत में बहुत थोड़े जन्मते हैं और जन्म कर भी बहुत स्वल्प आयु भोगते हैं।

"इसके हुए बिना देश का सुधार कभी नहीं होगा। आप जैसे पुरुष जितना अधिक जिए, उतनी ही अधिक देशोन्नति होती है। इस पर आप लोगों को ध्यान अवश्य देना चाहिए।

इस पत्र से स्पष्ट है कि स्वामीजी ने देशी नरेशों को सुधारने के लिए कितना प्रयत्न किया। इसमें तनिक सन्देह नहीं कि यदि स्वामीजी का इतनी जल्दी प्राणान्त न हो जाता तो वह अपने प्रयत्न में बहुत कुछ सफल हो जाते। किन्तु नरेशों का जीवन इतना बिगड़ चुका था कि इतने स्वल्प समय में ऋषि का स्वप्न पूरा होना कठिन ही था। विदेशी शासकों के प्रभुत्व के कारण इस महान् कार्य को करने के लिए बहुत अधिक समय और साधनों की आवश्यकता थी रियासतों के सुधार का कार्यक्रम ऋषि के भारत को 'स्वाधीन' स्वतन्त्र और अखण्ड रखने के व्यापक कार्यक्रम का आवश्यक अंग था। यद्यपि वह उनके जीवनकाल में पूरा न हो सका। तथापि ऋषि की भावना जोर पकड़ती जा रही है और रियासतों में जागृति एवं प्रगति पैदा होती जाती है। रियासतों की समस्यां एक बहुत बड़ा प्रश्न है। इस महान् प्रश्न को हल करने के लिए सबसे पहला प्रयत्न ऋषि दयानन्द ने किया था—आर्यसमाज को इस पर गर्व है। गर्व ही नहीं, आर्यसमाज अब भी रियासतों के सुधार में सक्रिय भाग ले रहा है। पटियाला, धौलपुर तथा हैदराबाद आदि रियासतों में आर्यसमाज द्वारा प्रजा के नागरिक हितों की रक्षार्थ किये गये आन्दोलन इसके साक्षी हैं।

आर्यसमाज और राष्ट्रीयता

"जो उन्नति करना चाहो तो आर्यसमाज के साथ मिलकर उसके उद्देश्य के अनुसार आचरण करना स्वीकार कीजिए, नहीं तो कुछ हाथ न लगेगा, क्योंकि हम और आपको अति उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है और आगे होगा, उसकी उन्नति तन, मन, धन से सब जने मिलकर प्रीति से करे। इसलिए जैसा आर्यसमाज आर्यावर्त देश की उन्नति का कारण है, वैसा दूसरा नहीं हो सकता।"[१]

आर्यसमाज को एक साम्प्रदायिक अथवा धार्मिक संस्था माननेवाले लोग ऋषि के उपर्युक्त वाक्यों को ध्यानपूर्वक पढ़ेंगे तो उन्हें पता लगेगा कि आर्यसमाज एक सम्प्रदाय नहीं अपितु सार्वभौम संस्था है जिसका मुख्य उद्देश्य 'संसार का उपकार करना है। अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।' महर्षि दयानन्द सरीखे राष्ट्रवादी द्वारा संस्थापित आर्यसमाज को जिसका उद्देश्य इतना महान् हो, एक साम्प्रदायिक संस्था कहना सर्वथा अयुक्त है। इसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त आर्यसमाज के साथ मिलने की प्रेरणा उपर्युक्त लेख में है। महर्षि ने आर्यसमाज को देश की उन्नति के लिए सबसे अच्छी संस्था माना है। कहना न होगा कि देश की उन्नति का अर्थ केवल सन्ध्या और हवन का ही प्रचार नहीं है। उससे राष्ट्र का सर्वांगीण विकास अभिप्रेत है।

---

१. सत्यार्थ० पृ० २४५।

प्रायः सुनने में आता है कि आर्यसमाज विशुद्ध धार्मिक संस्था है, राजनैतिक नहीं। कोई-कोई उसके राजनैतिक होने अथवा बनाये जाने पर बल देते हैं। धर्म के प्रचलित अर्थों में आर्यसमाज को धार्मिक संस्था कहना उसके विराट् स्वरूप की अवहेलना करना है। जो ऐसा कहते हैं उन्होंने न आर्यसमाज को समझा है और न उसके प्रवर्तक महर्षि दयानन्द को। इसके विपरीत जो लोग आर्यसमाज को राजनैतिक संस्था कहते हैं वे भी उसके सर्वांग सुन्दर रूप को न देखकर एक ही अंग को देखते हैं। वास्तव में आर्यसमाज एक धार्मिक संस्था है। परन्तु जब मैं यह कहता हूं तो मेरे सामने धर्म का वह सर्वांगीण रूप होता है जिसे महर्षि दयानन्द ने अपनाया है। 'यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धिः स धर्मः'—धर्म वह है जिससे अभ्युदय तथा निःश्रेयस दोनों की प्राप्ति हो। धर्म की इस परिभाषा के समझ लेने पर आर्यसमाज के धार्मिक अथवा राजनैतिक होने की पहेली भी आसानी से समझ में आ जाती है। धर्म के इन्हीं अर्थों में आर्यसमाज एक धार्मिक संस्था है। जिस धर्म का स्वरूप इतना व्यापक हो, अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्दजी के शब्दों में, राजनीति ही क्या संसार की कोई भी नीति उसकी सीमा से बाहर नहीं जा सकती। क्या राजनीति का आश्रय लिए बिना अभ्युदय की प्राप्ति सम्भव है ? वैदिक धर्म अधूरा नहीं है। राजनीति उसका आवश्यक अंग है। राजनीति सत्यार्थप्रकाश के मुख्य विषयों में है। उसमें ऋषि ने राजनीति को राजनीति के अतिरक्त राजधर्म के नाम से भी पुकारा है क्योंकि वह राज्य शास्त्र को धर्मशास्त्र के ही अन्तर्गत मानते थे। मनुस्मृति के अध्ययन से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि राजनीति धर्म की विविध शाखाओं में से एक है।

आर्यसमाज का विश्वास है कि "वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है।"[1] जब ऐसा है तो मानना पड़ेगा कि आर्यसमाज जिसकी नींव वेद

पर है, वेद की सभी सत्य विद्याओं का प्रचार एवं प्रसार करने वाली संस्था है। वेद में राजनीति सम्बन्धी ज्ञान की कमी नहीं है। सूक्त के सूक्त राजनीति से भरे हुए हैं। ऐसी अवस्था में किसी का यह समझना कि आर्यसमाज का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है, उसकी भूल है।

यहां तक तो रही सिद्धान्त की बात। सक्रिय राजनीति में भी आर्य समाज पीछे नहीं रहा। Indian Unrest के लेखक वेलेण्टाइन शिरोल ने ठीक ही लिखा था कि "जहां जहां आर्यसमाज का ज़ोर है, वहां वहां राजद्रोह प्रबल है।" सर्वप्रथम १८७५ में राजकोट में आर्यसमाज की स्थापना हुई थी। उस समय कांग्रेस या किसी अन्य राजनैतिक संस्था का जन्म भी नहीं हुआ था। उक्त आर्यसमाज की राष्ट्रिय प्रवृत्तियों के कारण उसके अधिकारियों को उसी वर्ष ज़ेल की हवा खानी पड़ी थी। आर्यसमाज और उसकी संस्थायें ब्रिटिश सरकार के लिए सबसे भारी खतरा समझी जाने लगीं। गुरुकुल कांगड़ी को तो विद्रोह का केन्द्र समझा जाता था। आर्यसमाज और विद्रोह पर्यायवाची बन गये। ब्रिटिश भारत और रियासतों में सर्वत्र आर्यसमाज को सरकार का कोपभाजन बनना पड़ा। आर्यसमाजियों पर मुकदमे चलाये गये। उन्हें फौज तथा अन्य सरकारी विभागों से पृथक् कियां गया। आर्यसमाज की पुस्तकें जब्त की गयीं। समाज मन्दिरों पर से ओइम् के झण्डे तक उतारे गये। इतना दमन होने पर भी आर्यसमाज दिन प्रतिदिन आंगे बढ़ता ही गया। भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम में लाला लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानन्द, भाई परमानन्द, सरदार भक्तसिंह आदि के नेतृत्व में जो भाग आर्यसमाज ने लिया वह विश्व विदित है। इतिहास का विद्यार्थी उसे भुला नहीं सकता।

---

१. आ० स० का ३ नियम

फिर भी साधारण के मुंह से यही सुनने को मिलता है कि आर्य समाज ने देश की स्वतन्त्रता के लिए कुछ नहीं किया। इसके दो मुख्य कारण हैं। प्रथम तो आर्यसमाज का अपने को धार्मिक संस्था कहना और लोगों का धर्म के वास्तविक अर्थों का न जानना। दूसरे आर्यसमाज का अपने कार्यक्रम में परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तन न करना। दूसरे कारण को ठीक-ठीक समझ लेने की आवश्यकता है। आर्यसमाज का कार्यक्रम चहुंमुखी था। उसके ऊपर भारत ही नहीं समस्त संसार के धार्मिक तथा सामाजिक सुधार का भी भार था। राजनीति उनके विशाल कार्यक्रम का एक अंग था। उसकी सारी शक्ति एक ही दिशा में नहीं लग सकती थी। उसी समय एक दूसरी संस्था का निर्माण किया जा रहा था जिसका एक मात्र लक्ष्य देश की राजनैतिक उन्नति ही थी। जबकि आर्यसमाज को सभी विषयों पर ध्यान देना था, कांग्रेस ने केवल राजनीति में Specialise किया। आर्यसमाज ने अपने कार्यक्रम का यह भाग कांग्रेस को सौंप दिया। जनता उसके पीछे हो ली। कालान्तर में आन्दोलन की इस चहल-पहल में लोग क्रान्ति के जन्मदाता और स्वराज्य के प्रेरक आर्यसमाज को भूल गये।

किन्तु आर्यसमाज निश्चिन्त होकर नहीं बैठ रहा। यद्यपि उसने देश के बाह्य शत्रुओं से युद्ध करने का कार्य कांग्रेस के कन्धों पर छोड़ दिया तथापि अन्दर के शत्रुओं से उसका संघर्ष जारी रहा। आपस की फूट, छूतछात, अविद्या, सामाजिक कुरीतियां, अन्धविश्वास आदि शत्रुओं से वह सदा टक्कर लेता रहा। पारस्परिक मतभेदों को दूर करने के लिए उसने शुद्धि और संगठन की नींव डाली, छूतछात को दूर करने के लिए उसने अछूतोद्धार का बीड़ा उठाया, अविद्या के नाश के लिए स्कूलों और कॉलेजों तथा गुरुकुलों का जाल बिछाया, सामाजिक कुरीतियों के नाश के लिए अत्यन्त प्रचण्ड आन्दोलन किया, अन्धविश्वासों को मिटाने के

लिए उसने तर्क का आश्रय लिया, देश के आर्थिक विकास के लिए उसने स्वदेशी के प्रयोग तथा गोरक्षा आन्दोलन को जन्म दिया, सैन्य शक्ति के संचय के लिए आर्यवीर दल की स्थापना की, राष्ट्र की एकता के लिए राष्ट्र भाषा हिन्दी का प्रचार किया आदि आदि । एक ओर कांग्रेस का खण्डनात्मक काम जारी था तो दूसरी ओर आर्यसमाज का रचनात्मक कार्यक्रम चल रहा था । कौन कह सकता है कि आर्यसमाज के रचनात्मक कार्यक्रम से कांग्रेस के कार्य को बल नहीं मिला । अब तो गोसेवा संघ, हरिजन सेवक संघ, हिन्दी साहित्य सम्मेलन आदि नई-नई संस्थायें आर्य समाज के कार्यक्रम के एक-एक अंग को लेकर खड़ी हो गयी हैं । किन्तु इन सबका श्रीगणेश एक साथ आर्यसमाज ने किया—इससे कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति इन्कार नहीं कर सकता । यह रचनात्मक कार्यक्रम ही भारत की राष्ट्रीयता को आर्यसमाज की सबसे बड़ी देन है । आर्यसमाज राष्ट्रीय संस्था अवश्य है किन्तु वह राजनैतिक दल नहीं ।

